सोवियत समाजवाद : एक प्रति-आलोचना

राजनीति में आपको उन विचारों को तोते की तरह बार-बार दोहराना पड़ता है जिन्हें आप सही और सत्यापित मानते हैं। यह थका देने वाला होता है- आप लगातार अपनी ही आवाज की प्रतिध्वनि सुनते हैं और स्वयं को ही तोते की तरह सुनाई देने लगते हैं। लेकिन ऐसी दुनिया में जो इतनी भिन्न-भिन्न आवाजों से भरी हुई है, यदि आप एक भी श्रोता हासिल करना चाहते हैं तो यह अनिवार्यत: काम का हिस्सा हो जाता है।

- गुन्टर ग्रास

खतरा यह नहीं है कि हम क्रांति के रिकार्ड पर लगे इतने गंभीर धब्बों पर, मानव कष्टों के रूप में कीमत पर, इसके नाम पर किये गये अपराधों पर पर्दा डाल दें। खतरा इस बात का है कि हम इसकी विशाल उपलब्धियों को भूल जाने या उस पर चुप्पी साध लेने की ओर प्रवृत्त हों।

- ई. एच. कार

वर्गों के खात्मे का मतलब केवल पूंजीपतियों और भूस्वामियों को खदेड़ देना नहीं है- वह तो हमने अपेक्षाकृत आसानी से कर लिया था- इसका यह भी मतलब है कि छोटे माल उत्पादकों को भी समाप्त किया जाये, और उन्हें खदेड़ा नहीं जा सकता, या कुचला नहीं जा सकता, हमें उनके साथ सामन्जस्य में रहना होगा, उन्हें केवल बहुत लम्बे, धीमे, सावधानी भरे सांगठनिक काम से ही फिर से ढाला और पुनर्शिक्षित किया जा सकता है (और निश्चित तौर पर किया जाना चाहिए) ... ... सर्वहारा का अधिनायकत्व पुराने समाज की शक्तियों और आदतों के खिलाफ एक निरंतर चलने वाला संघर्ष है- खूनी और बिना खून खराबे के, हिंसक और शान्तिपूर्ण, सैनिक और आर्थिक, शैक्षिक और प्रशासकीय। लाखों और करोड़ों की आदत एक बहुत भयानक ताकत है। संघर्षों में तपी हुई एक लौह पार्टी के बिना, किसी वर्ग में जो कुछ भी ईमानदार है उसका भरोसा हासिल करने वाली पार्टी के बिना, जनता की मन:स्थिति को पढ़ने और उसे प्रभावित करने वाली पार्टी के बिना इस संघर्ष को सफलतापूर्वक चलाना असंभव है। लाखों-लाख छोटे मालिकों को 'पराजित' करने के मुकाबले बड; बुर्जुआ को पराजित करना हजारों गुना आसान है; तथापि वे अपनी सामान्य दैनन्दिन नजर न आने वाली, पकड़ में न आने वाली, हतोत्साहित करने वाली गतिविधि से वही परिणाम हासिल करते हैं जो बुर्जुआ चाहता है और जो बुर्जुआ को पुनर्स्थापित करने की ओर प्रवृत्त होता है।

- लेनिन

I

पूर्वकथन

रूस की महान अक्टूबर सर्वहारा समाजवादी क्रांति के इस शताब्दी वर्ष में इस क्रांति और इसके द्वारा स्थापित समाजवादी समाज पर व्यापक चर्चा होना स्वाभाविक बात है। यह भी स्वाभाविक है कि समाज के सभी वर्ग अपने-अपने वर्गीय दृष्टिकोण, जो उनके वर्गीय हितों से उद्भूत होते हैं, से इस पर चर्चा करें।

साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग रूसी क्रांति के जन्मकाल से ही इस पर हर तरह के हमले करता रहा है। यह हमला केवल वैचारिक नहीं रहा है। इन हमलों में सैनिक हस्तक्षेप, सैनिक घेरेबंदी, राजनीतिक व आर्थिक नाकेबंदी सब शामिल रहे हैं। यहां तक कि जब सोवियत संघ में ख्रुश्चोव व ब्रेझनेव जैसे संशोधनवादी हावी हो गये तब भी साम्राज्यवादियों द्वारा इनकी संशोधनवादी सत्ताओं को कम्युनिस्ट शासन घोषित कर वैचारिक हमला जारी रहा। इन वैचारिक हमलों में साम्राज्यवादी बुद्धिजीवियों और प्रचारकों ने किसी भी तरह के झूठ-फरेब से परहेज नहीं किया। उन्होंने कभी तथ्य या सत्य की चिन्ता नहीं की। उन्होंने केवल अपने लक्ष्य की चिन्ता की और वह था-हर हाल में कम्युनिस्ट विचारधारा और उससे प्रेरित सोवियत समाजवाद को बदनाम कर दुनिया की मजदूर-मेहनतकश जनता को उससे दूर करना तथा स्वयं सोवियत समाजवाद को ध्वस्त करना। इसके लिए साम्राज्यवादी बुद्धिजीवियों और प्रचारकों द्वारा न जाने कितनी किताबें लिखी गई, न

जाने कितनी पत्रिकाएं प्रकाशित की गईं और न जाने कितने संस्थान खड़े किये गये। साम्राज्यवादियों और उनकी राज्य सत्ताओं द्वारा इसके लिए दिल खोल कर पैसा खर्च किया गया।

यदि साम्राज्यवादियों ने यह सब किया तो मजदूर आंदोलन में उनके गुर्गों यानी मजदूर आंदोलन के संशोधनवादियों-सुधारवादियों से इससे भिन्न की उम्मीद नहीं की जा सकती थी। इन्होंने भी थोड़े भिन्न शब्दों में साम्राज्यवादियों के तर्कों को ही दोहराया या अपनी ओर से कुछ नये तर्क गढ़े। इस मामले में दोनों एक-दूसरे से आदान-प्रदान करते रहे। दोनों एक-दूसरे के तर्कों को और भी परिष्कृत करते रहे। फर्क बस इतना ही था कि जहां साम्राज्यवादी मार्क्सवाद, कम्युनिज्म और समाजवाद को नकार कर यह सब करते थे वहीं संशोधनवादी-सुधारवादी इनको औपचारिक तौर पर स्वीकार कर इनकी आड़ में यह सब करते थे। दूसरे इंटरनेशनल के सूरमाओं से लेकर त्रात्स्कीपंथी, टीटोपंथी, ख्रुश्चोव-ब्रेझनेव तक इनकी एक लम्बी शृंखला है।

इन संशोधनवादियों-सुधारवादियों और साम्राज्यवादियों द्वारा रूसी क्रांति तथा सोवियत समाजवाद के विरुद्ध इतना कुछ, इतने सारे पहलुओं से कहा जा चुका है कि आज शायद ही कोई नयी बात या नये तर्क सुनाई दें। जहां तक तथ्यों की बात है, सोवियत संघ के पतन के बाद वहां खोले गये गुप्त अभिलेखागार भी केवल पुराने उपलब्ध तथ्यों में कुछ मात्रात्मक तौर पर ही जोड़ पा रहे हैं। उनसे रूसी क्रांति के मित्रों और शत्रुओं दोनों के लिए तस्वीर में जरा भी परिवर्तन नहीं हो रहा है, शत्रुओं के लिए तो और भी नहीं क्योंकि उन्होंने कभी तथ्यों की परवाह ही नहीं की थी हालांकि उन्होंने हमेशा विरोधियों पर यह आरोप लगाया था (इसका एक उदाहरण हम अभी देखेंगे)।

इसलिए आज रूसी क्रांति के सौ साल बाद भी इसके मूल्यांकन या पुनर्मूल्यांकन का सवाल प्रथमतः इतिहास या तथ्यों की छानबीन का सवाल न होकर विचारधारा का सवाल बन जाता है। रूसी क्रांति के बारे में तथ्य सौ, अस्सी या पचास साल से मौजूद हैं। हाल के शोध उनमें कुछ भी गुणात्मक तौर पर नये तथ्य नहीं जोड़ रहे हैं। तर्कों की बात करें तो ये भी सौ, अस्सी या पचास साल से मौजूद हैं। ऐसे में मूल्यांकन या पुनर्मूल्यांकन वस्तुतः रूसी क्रांति या सोवियत समाजवाद के बारे में पहले से उपलब्ध वर्णनों (Narratives) में से एक को चुनना हो जाता है, चाहे यह सचेत तौर पर हो या अचेत तौर पर। ज्यादा से ज्यादा यही हो सकता है कि इनमें से कुछ को लेकर एक नयी खिचड़ी तैयार की जाये। यह किया जाता है या किया जायेगा व्यक्ति या पार्टी के वर्गीय दृष्टिकोण से। इससे इतर नहीं हो सकता।

कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के लिए रूसी क्रांति और सोवियत समाजवाद का वह चित्रण स्वीकार्य है जो **सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) का इतिहास** में प्रस्तुत है उस आलोचना के साथ बाद में जो माओ ने सोवियत समाजवाद की की थी। इसके बरक्स दूसरे इंटरनेशलन किस्म के मार्क्सवादियों के लिए काउत्स्की द्वारा प्रस्तुत किया चित्र व विश्लेषण स्वीकार्य होगा। त्रात्स्कीपंथियों के लिए त्रात्स्की द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण ही सत्य होगा जबकि ख्रुश्चोव किस्म के संशोधनवादियों के लिए उसके बदनाम भाषण द्वारा प्रस्तुत चित्र। इसी तरह अन्य भी। 'वाम' के दायरे में यह बाद में यूरोकम्युनिज्म और 'न्यू लेफ्ट' तक चला जाता है। जहां तक साम्राज्यवादियों का सवाल है वे 1917 से ही सुसंगत तरीके से रूसी क्रांति और सोवियत समाजवाद का एक ही तरीके से चित्रण करते हैं। उनके लिए तो लेनिन और स्तालिन दोनों ही खूनी नरपिशाच थे।

इस शताब्दी वर्ष में रूसी क्रांति व सोवियत समाजवाद पर जो भी चर्चा होगी उनमें उपरोक्त में से एक या दूसरा दृष्टिकोण मौजूद होगा। मूल्यांकन या पुनर्मूल्यांकन के नाम पर वस्तुतः पुरानी बातें ही दोहराई जायेंगी, पुराने तथ्य और तर्क ही प्रस्तुत किये जायेंगे।

ऐसे में स्पष्ट है कि कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन में यदा-कदा उठने वाली पुनर्मूल्यांकन की बात का क्या मतलब हो सकता है। इसका केवल एक ही मतलब होगा-अपनी कम्युनिस्ट क्रांतिकारी अवस्थितियां छोड़कर कोई संशोधनवादी या साम्राज्यवादी अवस्थिति स्वीकार कर लेना तथा इस तरह अंततः कम्युनिस्ट क्रांतिकारी के रूप में अपनी स्थिति को विसर्जित कर देना।

एक उदाहरण इसे स्पष्ट करेगा।

कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन में चार्ल्स बेतेलहाइम एक जाना-पहचाना नाम है। चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति के दौरान इन्होंने इसकी अवस्थितियों को स्वीकार किया था। इन्हीं पर आधारित कर उन्होंने रूसी क्रांति और सोवियत समाजवाद का विश्लेषण करने का प्रयास किया। इस तरह उनकी किताब **सोवियत संघ में वर्ग संघर्ष** अस्तित्व में आई। 1917 से 1930 के काल को सम्बोधित करने वाले इसके दोनों खंड 1960 के दशक में प्रकाशित हुए। इसमें उन्होंने मूलतः माओ की आलोचना को प्रस्थान बिंदु बनाकर सोवियत समाजवाद को परखने का प्रयास किया। लेकिन इन दोनों खंडों से स्पष्ट है कि वे अक्सर ही उन सीमाओं को लांघ जाते हैं जो माओ ने अपनी आलोचना में खींच रखी थीं। इन सीमाओं के उल्लंघन का क्या परिणाम निकला? जब 1980 के दशक में सोवियत समाजवाद के 1930 से 40 के काल को संबोधित करने वाले उनकी किताब के बाकी दो खंड प्रकाशित हुए तो वे सोवियत संघ को समाजवादी मानना बंद कर चुके थे। वे इस काल के सोवियत समाजवाद को उसी तरह चित्रित करते हैं जैसे साम्राज्यवादी या काउत्स्कीपंथी। उनके सारे तथ्यों के श्रोत भी साम्राज्यवादी या सोवियत गद्दार होते हैं। वे यहीं तक सीमित नहीं रहते बल्कि स्वयं 1917 तक पीछे लौटते हैं और बोल्शेविकों द्वारा सत्ता पर कब्जे को ही सारी विपदा की जड़ घोषित कर देते हैं। इस तरह वे अपनी ही किताब के पहले के दो खंडों को नकार देते हैं।

काउत्स्कीपंथियों और साम्राज्यवादियों द्वारा प्रस्तुत तर्कों, तथ्यों से परिचित किसी भी व्यक्ति के लिए उनकी किताब के बाद के दोनों खंडों में प्रस्तुत बातें एकदम जानी-पहचानी लगेंगी। वे पहले से मौजूद थीं। बस बेतेलहाइम ने उन्हें अपनी किताब में एक जगह प्रस्तुत कर दिया। सोवियत समाजवाद की अपनी आलोचना की प्रक्रिया में वे एक माओ समर्थक से साम्राज्यवादी प्रचारक में रूपान्तरित हो गये।

इसके सिवा कुछ हो भी नहीं सकता। रूसी क्रांति और सोवियत समाजवाद के पुनर्मूल्यांकन के नाम पर कोई भी पहले से मौजूद संशोधनवादी या साम्राज्यवादी तर्कों की ओर मुड़ेगा और फिर एक फिसलन भरी राह उसे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी दायरे से बाहर कर देगी।

इसका मतलब यह नहीं है कि हम अमूर्त तौर पर रूसी क्रांति और सोवियत समाजवाद के किसी भी पुनर्मूल्यांकन के खिलाफ हैं। हमारा मत है कि यह पुनर्मूल्यांकन किया जाना चाहिए और वक्त आयेगा जब यह किया जायेगा। लेकिन यह केवल नयी, ज्यादा ऊंचे स्तर की क्रांतियों के द्वारा ही किया जा सकेगा। आज नहीं। आज तो कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के परंपरागत मूल्यांकन का पुनर्कथन ही या उसके आधार पर तर्क-वितर्क ही पर्याप्त होगा।

रूसी क्रांति का मूल्यांकन या पुनर्मूल्यांकन कैसे इतिहास के बदले प्रथमतः और मूलतः विचारधारा का सवाल है इसे बताने के लिए हम यहां एक और उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

स्तालिन कालीन सोवियत समाजवाद के बारे में सबसे विवादास्पद मुद्दों में से एक है इस काल में दमन किये गये लोगों की संख्या का सवाल। सोवियत समाजवाद को बदनाम करने के लिए इसी का सबसे ज्यादा इस्तेमाल किया जाता रहा है।

साम्राज्यवादियों द्वारा इस संबंध में एक से एक आंकड़े दिये जाते रहे हैं। इनमें से कुछ का जिक्र माइकल पैरेन्टी ने अपनी किताब ब्लैक शर्ट्स एण्ड रेड्स में इस तरह किया है :

> "हमने लाल के निर्मम दमन के बारे में बहुत कुछ सुना है जो जोसेफ स्तालिन की तानाशाही के काल (1929-53) में आतंक और दमन से शुरू होता है। स्तालिन के शासन में काल-कवलित हुए लोगों की संख्या में बहुत भिन्नता है। यह संख्या मुख्यतः लेखकों की अपनी अटकलबाजी पर आधारित है जो कभी यह नहीं बताते कि वे इन नतीजों तक कैसे पहुंचे। राय मेडवेदेव स्तालिन के शिकार लोगों की संख्या पचास से सत्तर लाख बताते हैं, राबर्ट कांकेस्ट ने यह संख्या सत्तर से अस्सी लाख तय की; वोल्गा शतुनोव्स्किया ने केवल 1930-40 काल के लिए यह संख्या एक करोड़ अठ्ठानबे लाख बताई; स्टीफन कोहेन ने यह संख्या 1939 तक नब्बे लाख बताई जिनमें से तीस लाख केवल 1936-39 काल में मृत्युदंड या खराब व्यवहार से मर गये; और आर्थर कोस्टलर हमें यह बताते हैं कि यह संख्या दो से ढाई करोड़ थी। अभी हाल में क्लेरमान्ट इंस्टीट्यूट के विलियम रशर ने कहा है कि '1917 की बोल्शेविक क्रांति के समय से दस करोड़ लोग कम्युनिस्ट तानाशाहों द्वारा यूं ही मार दिये गये' (ओकलैण्ड ट्रिब्यून, 1/22/96) और रिचर्ड लौरी ने स्तालिन काल पर 'लाखों लोगों (Millions) की हत्या' का आरोप लगाया है (New York Times, 8/4/96)।" (Michael Parenti, Black Shirts and Reds, City Light Books, San Frncisco,1997,P-79)

इस मामले में सच्चाई क्या है? रूसी अभिलेखागार के खुलने के बाद जान आर्च गेट्टी ने इस पर शोध किया। उन्हें शोध के लिए पैसा अमेरिकी सरकार के विदेश विभाग से मिला तथा उनकी किताब 'Road to Terror' को येल विश्वविद्यालय ने अपने कापीराइट के तहत प्रकाशित किया। उनके द्वारा निर्धारित आंकड़ों को प्रस्तुत करने वाले किताब के परिशिष्ट को इस लेख के परिशिष्ट के तौर पर दिया जा रहा है।

गेट्टी द्वारा निर्धारित आंकड़े यह दिखाते हैं इस मामले में प्रस्तुत किये जाने वाले सबसे कम आंकड़े ही सच्चाई के अनुरूप थे। 1930 के दशक में सामूहिकीकरण के दौरान मरने वाले तथा बाद में षड्यंत्र में दोषी पाये गये मृत्युदंड के भागी लोगों की सारी संख्या मिलाकर बीस लाख तक आंकी जा सकती है। सारे गिरफ्तार और दंडित लोगों की संख्या भी पैंतीस लाख से ज्यादा नहीं बैठती।

महत्वपूर्ण बात यह है कि इनसे मिलते-जुलते आंकड़े ख्रुश्चोव काल और गोर्बाचोव काल में जारी किये जा चुके थे-मूलतः स्तालिन को बदनाम करने के उद्देश्य से। पर साम्राज्यवादियों और उनके गुर्गों को इनसे संतोष नहीं था। वे तो इस संख्या को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाना चाहते थे क्योंकि इससे सोवियत समाजवाद को बदनाम करने का उनका वर्गीय हित पूरा होता था।

इस तरह रूसी क्रांति और सोवियत समाजवाद के संबंध में एक वस्तुगत आंकड़े का मामला भी तथ्य का सवाल न रहकर विचारधारा का सवाल बन जाता है। इतिहास के हवाले से हम जानते हैं कि यह इतिहास की अन्य महान क्रांतियों के बारे में भी सच रहा है। महान फांसीसी क्रांति के जैकोबिन काल से आज भी दुनिया का पूंजीपति वर्ग सामंजस्य नहीं बैठा पाया है। वह आज भी 'आतंक काल' के रूप में उसकी निंदा का पात्र है। कोई आश्चर्य नहीं कि सोवियत समाजवाद का काल (जिसने वहां निजी सम्पत्ति की व्यवस्था समाप्त की) बुर्जुआ वर्ग और उसके लगुवों भगुवों के लिए घोर निंदा का पात्र हो और वे उसकी निंदा में किसी भी सीमा का पालन न करें।

II

एक देश में समाजवाद

रूसी क्रांति और सोवियत समाजवाद के बारे में आज एक सदी बाद सबसे सामान्य सवाल तो यही है कि इसका अंतिम हश्र जो हुआ उसे देखते हुए क्या उस क्रांति और उसके द्वारा स्थापित समाजवाद का कोई औचित्य था। बुर्जुआ दृष्टिकोण से देखें तो क्या यह रूस में पूंजीवाद स्थापित करने का सबसे क्रूर, विकृत और सबसे टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता नहीं था? क्या यह बेहतर नहीं होता कि फरवरी क्रांति के बाद रूस को पूंजीवादी रास्ते पर बढ़ने दिया गया होता- एक बुर्जुआ जनवादी राज्य के तहत? क्या दूसरे इंटरनेशनल के नेताओं की बात सही

साबित नहीं हुई कि बिना उन्नत पूंजीवादी विकास के समाजवादी युग में प्रवेश नहीं किया जा सकता? और क्या अंततः त्रात्स्की सही साबित नहीं हुआ जिसका हमेशा मानना रहा था कि एक देश में समाजवाद का निर्माण नहीं हो सकता था? क्या पश्चदृष्टि की सुविधा से देखें तो ये सारे बुर्जुआ और संशोधनवादी सही नहीं थे?

सामान्य तौर पर देखें तो अक्सर ही नये युग का सूत्रपात करने वाली क्रांतियों के साथ ऐसा ही हुआ। तात्कालिक तौर पर क्रांति के पराजित हो जाने के बाद ये सवाल उठते रहे हैं कि इतनी सारी मार-काट और इतने सारे मानव कष्टों का क्या वास्तव में कोई औचित्य था? फ्रांसीसी क्रांति में चरम क्रांतिकारियों यानी जैकोबिनों की पराजय के बाद उनके वर्चस्व काल को 'आतंक का राज्य' घोषित कर उसे क्रांति के लिए विपदा काल घोषित कर दिया गया। इससे भी आगे नैपोलियन की पराजय के बाद जब यूरोपीय शक्तियों ने बूर्बो वंश को फिर फ्रांस के सिंहासन पर आरूढ़ कर दिया तो एक बार फिर यह सवाल उठा कि पिछले पच्चीस सालों का क्या औचित्य था? महान फ्रांसीसी क्रांति के दस सालों और फिर नैपोलियन के पन्द्रह सालों का क्या औचित्य था जिसमें फ्रांस निरंतर ही आंतरिक या वाह्य तौर पर युद्धरत रहा? इन पच्चीस सालों में फ्रांसीसी जनता की जो मौतें हुई उनका क्या औचित्य था?

पर आज प्रतिक्रियावादियों को छोड़कर हर किसी के लिए फ्रांसीसी क्रांति का विश्व ऐतिहासिक महत्व स्पष्ट है। कुछ लोगों का तो यहां तक कहना है कि इसके विश्व ऐतिहासिक महत्व का समुचित मूल्यांकन करने के लिए गुजरा हुआ वक्त अभी भी नाकाफी है।

रूस की अक्टूबर क्रांति फ्रांसीसी क्रांति के मुकाबले भी कई गुना ज्यादा विश्व ऐतिहासिक महत्व की क्रांति थी क्योंकि इसने फ्रांसीसी क्रांति की तरह एक वर्गीय समाज का अन्त करके एक नये वर्गीय समाज का आगाज नहीं किया था बल्कि इसने वर्गीय समाजों के पूरे युग का ही समापन कर एक नये युग का आगाज किया। यदि मानव सभ्यता की शुरूआत वर्गीय समाजों के अभ्युदय से हुई थी तो रूसी क्रांति ने इसे लांघ कर, हजारों सालों के युग का अंत कर एक एकदम ही नयी सभ्यता की शुरूआत की।

इस तरह की क्रांति का होना अपने आप में ही औचित्यपूर्ण था चाहे यह क्रांति कितनी भी कम आयु की साबित हुई या इसके द्वारा स्थापित समाज कितने ही विकृत (अपने घोषित मापदंडों पर) साबित क्यों न हुए हों। यह एकदम ही समझ में आने वाली बात है कि यह क्रांति एक झटके में, एकबारगी ही हजारों सालों से चले आ रहे वर्गीय समाज के युग का समापन नहीं कर सकती थी। इसकी उपलब्धि इस प्रक्रिया की शुरूआत कर देने में थी। किसी भी काम में पहला कदम ही सबसे कठिन होता है और रूसी क्रांति ने विश्व इतिहास में वर्ग-विहीन समाज की स्थापना की ओर यह पहला कदम उठा लिया था। यह रूसी क्रांति की महान उपलब्धि थी और विश्व इतिहास में हमेशा-हमेशा अक्षुण्ण रहेगी।

आज बुर्जुआ वर्ग इतना प्रतिक्रियावादी न होता तथा समाजवादी क्रांति से इतना भयभीत न होता तो रूसी क्रांति की तात्कालिक उपलब्धियां देख पाना भी उसके लिए इतना कठिन नहीं होता। लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों ने घोषित किया था कि उनकी समाजवादी क्रांति रूस के बचे खुचे जनवादी कार्यभारों को चलते-चलते ही पूरा कर देगी। रूस में तो यह हुआ ही, इसने क्रांतियों की एक ऐसी शृंखला को जन्म दिया जिसने सारी दुनिया के पैमाने पर बुर्जुआ जनवादी क्रांति के कार्यभारों को पूरा करने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बुर्जुआ जनवादी क्रांति के राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार रूसी क्रांति और सोवियत समाजवाद की महान प्रेरणा तथा समर्थन के बिना किस तरह पूरे हुए होते यह आज कल्पना करना मुश्किल है। इसी तरह सामंतवाद के खात्मे का कार्यभार भी। केवल इतना ही नहीं। समूची बीसवीं सदी के दौरान पूंजीवाद ने अपना लुटेरू चेहरा ढंक कर कुछ 'कल्याणकारी राज्य' का मुखौटा पहना तो इसमें भी रूसी क्रांति और सोवियत समाजवाद की अतीव भूमिका थी। इसीलिए यह कहा जाता है कि रूसी बोल्शेविक क्रांति और सोवियत समाजवाद के बिना पूंजीवाद भी वह नहीं होता जो वह आज है।

स्पष्टतः ही साम्राज्यवादी बुर्जुआ के लिए यह सब स्वीकार करना संभव नहीं है। इन्हें स्वीकार करने का मतलब न केवल रूसी क्रांति व सोवियत समाजवाद की महत्ता को स्वीकार करना होगा बल्कि स्वयं अपने पूंजीवादी इतिहास पर सवालिया निशान लगा लेना होगा। तब वह अपने जनतंत्र पर डींग नहीं हांक सकेगा क्योंकि पता चलेगा कि जनवाद की सारी लड़ाई तो कम्युनिस्टों ने लड़ी थी- मजदूर वर्ग और मेहनतकश किसान जनता को गोलबंद कर। तब पता चलेगा कि साम्राज्यवादी बुर्जुआ तो हमेशा ही भांति-भांति के प्रतिक्रियावादियों का ही साथ देता रहा था चाहे वे सामंती तत्व हों, धार्मिक कट्टरवादी हों या फिर फासीवादी। तब पता चलेगा कि 'कल्याणकारी राज्य' उसकी इच्छा नहीं बल्कि उसकी मजबूरी के परिणाम थे। यह मजबूरी खत्म होते ही उसने 'कल्याणकारी राज्य' पर हमला बोल दिया।

साम्राज्यवादी बुर्जुआ से भिन्न दूसरे इंटरनेशनल के उसके गुर्गों को समाजवाद से कोई असहमति नहीं थी। काउत्स्की जैसे लोगों को तो क्रांति से भी असहमति नहीं थी जो अभी प्रथम विश्व युद्ध के पहले तक क्रांति के बारे में किताबें लिख रहे थे। पर जैसा कि चीन की ड्रैगन के बारे में मशहूर कथा है, क्रांति जब उनके दरवाजे पर आई तो वे डर के मारे बेहोश हो गये।

दूसरे इंटरनेशनल के मध्यमार्गी और दक्षिणपंथी सारे सूरमाओं ने रूस की अक्टूबर क्रांति का जी-जान से विरोध किया। विरोध करने का उनका तर्क यही था रूस का समाज एक बेहद पिछड़ा समाज था और इतने पिछड़े समाज में समाजवाद का निर्माण नहीं हो सकता था। समाजवाद के निर्माण के लिए अत्यंत ऊंचे स्तर की भौतिक और सांस्कृतिक सभ्यता चाहिए थी जो रूस में नहीं थी। इतना ही नहीं। समाजवाद सारे पूंजीवादी देशों में एक साथ ही आ सकता था और अन्य देशों के सर्वहारा अभी इसके लिए तैयार नहीं थे। इसके लिए वे प्रमाण देते थे कि बाकी देशों के सर्वहारा क्रांति नहीं कर रहे थे।

जैसा कि वक्त ने दिखाया दूसरे इंटरनेशनल के सूरमाओं के ये सारे तर्क वस्तुतः क्रांति और समाजवाद से किनाराकशी करने के तर्क थे। इन गुर्गों ने 1951 में मार्क्सवाद से ही तौबा कर ली।

एक अकेले वह भी पिछड़े देश में समाजवाद का निर्माण बोल्शेविकों की इच्छा नहीं थी। यह एक ओर तो वस्तुगत तौर पर विश्व इतिहास की गति का परिणाम था तो दूसरी ओर आत्मगत तौर पर दूसरे इंटरनेशनल के मजदूर नेताओं की गद्दारी का परिणाम।

क्रांति के पहले और क्रांति के कुछ साल बाद तक बोल्शेविक यही सोच रहे थे कि रूस में मजदूर वर्ग के सत्ता पर कब्जे के द्वारा वे तो महज विश्व क्रांति की शुरुआत कर रहे हैं। उसे आगे बढ़ाने और समापन तक ले जाने का काम तो यूरोप के विकसित देशों का मजदूर वर्ग ही करेगा। यूरोप में क्रांति का ज्वार जब तक उतर नहीं गया तब तक बोल्शेविकों की यह उम्मीद बनी रही।

लेकिन वक्त ने दिखाया कि यूरोप के विकसित देशों में क्रांति अभी दूर थी और उसे टालने वाली कुछ शक्तियां सक्रिय थीं। साम्राज्यवादी देशों ने सारी दुनिया पर कब्जे के द्वारा अतिलाभ की जो विशाल राशियां हासिल की थीं और लगातार हासिल करते जा रहे थे उसके एक हिस्से से वे अपने यहां के संगठित मजदूर वर्ग के ऊपरी हिस्से को खरीदने में कामयाब हो गये थे। उनकी इस खरीद ने, उनकी इस घूस ने मजदूर वर्ग के इस नेतृत्वकारी हिस्से को भ्रष्ट कर सुधारवादी और पूंजीपति वर्ग का पिछलग्गू बना दिया था। दूसरे इंटरनेशनल की पार्टियां और नेता इसी का प्रतिनिधित्व करते थे। वे आपादमस्तक सुधारवादी थे भले ही वे क्रांति पर किताबें लिख रहे हों या क्रांतिकारी प्रस्ताव पास कर रहे हों।

विकसित साम्राज्यवादी देशों के मजदूर वर्ग के इन हालात में क्रांति का गुरुत्व केन्द्र अब पूरब की ओर खिसक रहा था। यह रूस से होते हुए औपनिवेशिक और अर्ध-औपनिवेशिक देशों की ओर जा रहा था।

पर अभी प्रथम विश्व युद्ध की विभीषिका के समय यूरोपीय देशों में स्थितियां क्रांति के इतने खिलाफ नहीं थी। वस्तुतः हुआ तो यही कि नवंबर 1918 में जर्मनी में क्रांति फूट पड़ी। लेकिन अब मजदूर वर्ग पर क्रांति न करने की तोहमत लगाने वाले सुधारवादी भयभीत हो गये। और क्रांति को कुचलने में पूंजीपति वर्ग की मदद करने में लग गये।

जैसा कि प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत से ही मजदूर आंदोलन के लेनिन जैसे क्रांतिकारी नेताओं ने भविष्यवाणी की थी, युद्ध की तबाही अंततः मजदूर वर्ग को विद्रोह और क्रांतियों की ओर ले गई। लेकिन अपने चरित्र के अनुरूप दूसरे इंटरनेशनल के सुधारवादी नेताओं ने क्रांति से गद्दारी की।

और जब इनकी गद्दारी के कारण रूस की क्रांति अकेली रह गई तो इन्होंने बोल्शेविकों पर आरोप लगाया कि वे एक अकेले पिछड़े देश में समाजवाद का निर्माण करना चाहते हैं। उन्होंने अपनी करतूतों पर परदा डाला और बोल्शेविकों की भर्त्सना की कि वे उन्हीं की तरह क्रांति से गद्दारी कर बुर्जुआ वर्ग की सेवा करने के बदले समाजवाद का निर्माण करने का यूटोपिया पाल रहे हैं।

असल में सारी सैद्धान्तिक आलोचनाओं की आड़ में मसले का सारतत्व यही था। सवाल स्पष्टतः यही था कि क्या रूस में बुर्जुआ समाज स्थापित होने दिया जाय या सर्वहारा के समाजवाद की ओर बढ़ा जाये। दूसरे इंटरनेशनल के सुधारवादियों
ने यूरोप के विकसित साम्राज्यवादी देशों में पूंजीपति वर्ग का तख्ता उलटने के बदले उनकी व्यवस्था चलाने का जिम्मा ले लिया था। वे बोल्शेविकों से भी यही उम्मीद कर रहे थे और ऐसा न करने के लिए बोल्शेविकों की भर्त्सना कर रहे थे। साम्राज्यवादियों की सेवा में लगे ये सुधारवादी रूस में मजदूर वर्ग के हितैषी बन कर सामने आ रहे थे, उसे यह समझाने के लिए कि उसका हित पूंजीपति वर्ग के सामने समर्पण और पूंजीवादी समाज की स्थापना में है।

अन्यथा तो, जैसा कि लेनिन ने बार-बार रेखांकित किया, विश्व इतिहास की गति में किसी पिछड़े देश में सत्ता पर कब्जा कर लेने के बाद मजदूर वर्ग यह क्यों न करे कि पहले यह समाजवाद का पूर्वाधार खुद तैयार करे और फिर समाजवाद का निर्माण करे। समाजवाद का पूर्वाधार तैयार करने का काम पूंजीवाद को ही क्यों सौंपा जाये?

एक अकेले, वह भी पिछड़े देश में समाजवाद के निर्माण की असंभाव्यता का दूसरा संस्करण त्रात्स्की का सिद्धान्त था। त्रात्स्की इस बात पर दृढ़ था कि विकसित साम्राज्यवादी देशों को समेटने वाली विश्व व्यापी क्रांति (क्योंकि तब गुलाम या निर्भर देशों में क्रांति सामान्य सी बात होती) ही समाजवाद का निर्माण कर सकती थी। विकसित साम्राज्यवादी देशों की उत्पादक शक्तियां इसके लिए अपरिहार्य थीं।

वैश्विक क्रांति के प्रस्तोता त्रात्स्की के पास इस सीधे से सवाल का जवाब नहीं था कि यदि यह वैश्विक क्रांति न हो तो एक अकेले देश में मजदूर राज का क्या हो? क्या उसे विघटित होने दिया जाये या उसे वैश्विक क्रांति के लिए दुस्साहस में झोंक दिया जाये?

लेनिन भी अन्य लोगों की तरह वैश्विक क्रांति के हामी थे। उन्हीं की तरह अन्य बोल्शेविक भी। परन्तु लेनिन साम्राज्यवाद का गहन विश्लेषण करने के बाद इस नतीजे पर पहुंचे थे कि इस बात की संभावना है कि पहले एक अकेले देश में क्रांति हो और वहां समाजवाद का निर्माण करना पड़े। हालांकि इस संभावना पर विचार कर लेने के बाद भी वे वैश्विक क्रांति की ही उम्मीद कर रहे थे पर वक्त ने दिखाया कि यही संभावना ही वास्तविकता बन गई।

एक अकेले देश में समाजवाद का निर्माण लेनिन या बोल्शेविकों की चाहत नहीं थी। लेकिन बोल्शेविकों और अन्य में यही फर्क था कि बोल्शेविक किन्हीं भी परिस्थितियों में क्रांति को आगे बढ़ाने के पक्षधर थे न कि वस्तुगत परिस्थितियों का हवाला देकर आत्मसमर्पण के। अपनी सारी वामपंथी लफ्फाजी के बावजूद त्रात्स्की वस्तुतः समपर्णवादी ही था।

दूर की कौड़ी ले आने वाले लोग दावा कर सकते हैं अंततः इतिहास घूम-फिर कर उसी रास्ते पर लौटा जिस पर उसे चलता हुआ मार्क्स-एंगेल्स अपने 1848 के **कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणापत्र** में देख रहे थे। रूस की क्रांति और अन्य क्रांतियां वे पगडंडिया साबित हुईं जिससे समाज इतिहास के राजमार्ग पर लौट आया। यह राजमार्ग था पूंजीवाद का उन्नत विकास और मजदूर वर्ग द्वारा सत्ता पर कब्जा कर समाजवाद की स्थापना-खुद उत्पादकों द्वारा सत्ता पर कब्जा और उत्पादन को अपने हाथ में लेकर उत्पादन के साधनों और उत्पादकों के बीच विलगाव को खत्म कर देना, उस विलगाव को जो पूंजीवाद पैदा करता है। मजदूर वर्ग द्वारा अपने लिए जनवाद की लड़ाई जीतना इसका अनिवार्य हिस्सा था। इस प्रक्रिया में मजदूर वर्ग की पार्टी को मजदूर वर्ग का स्थान नहीं लेना था।

कहने की बात नहीं कि मार्क्स और एंगेल्स ने **कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र** में विश्व इतिहास की गति का एक व्यापक और सामान्य चित्र खींचा था। दीर्घकाल में विश्व इतिहास को सामान्य तौर पर इसी तरह विकसित होना था। यही कारण है कि कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र 1848 में जितना समकालीन था उतना ही वह आज भी समकालीन लगता है।

पर मार्क्स और एंगेल्स विश्व इतिहास की गति की इस व्यापकता और सामान्यता में अंतर्निहित विशिष्टता और जटिलता से भी बहुत अच्छी तरह से परिचित थे। ठीक इसी कारण जब वे **कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र** के चौथे हिस्से में विशिष्ट देशों की चर्चा करते हैं तो स्थिति थोड़ी भिन्न हो जाती है।

जर्मनी की चर्चा करते हुए वे यह नहीं कहते कि वहां बुर्जुआ वर्ग बुर्जुआ जनवादी क्रांति कर पूंजीवाद का विकास करेगा और उसके तहत एक लम्बे समय तक सर्वहारा स्वयं को शिक्षित-प्रशिक्षित और संगठित करने के बाद सत्ता पर कब्जा करेगा। बल्कि इसके विपरीत वे यह कहते हैं कि जर्मनी की आसन्न बुर्जुआ जनवादी क्रांति तुरंत ही सर्वहारा क्रांति में रूपान्तरित हो जायेगी। इसीलिए वे कहते हैं कि कम्युनिस्ट जर्मनी पर विशेष ध्यान केन्द्रित करते हैं।

न केवल मार्क्स-एंगेल्स ने सैद्धान्तिक तौर पर यह कहा बल्कि जब उसी समय यूरोप के अन्य देशों सहित जर्मनी में क्रांति फूट पड़ी तो उन्होंने क्रांति के दो सालों में इसी दृष्टिकोण से क्रांति में भाग लिया। वे अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट लीग को इसी दृष्टिकोण से उन्मुख करते रहे।

बात केवल जर्मनी के उदाहरण तक सीमित नहीं है। पेरिस कम्यून को बुर्जुआ वर्ग द्वारा कुचल दिये जाने के बाद जब समूचे यूरोप में प्रतिक्रियावाद का बोलबाला हो गया तो उन्होंने अपनी उम्मीदें रूस पर केन्द्रित कीं जहां नरोद्वादी जारशाही से टक्कर ले रहे थे। मार्क्स और एंगेल्स की आतंकवादी कार्यवाहियों से कोई सहानुभूति नहीं थी। पर उन्हें लगता था कि रूसी जारशाही इतनी खोखली हो गई है कि इसे नरोद्वादी क्रांतिकारियों का धक्का भी ध्वस्त कर सकता था। और तब यूरोपीय प्रतिक्रियावाद के इस स्तंभ के ढह जाने के बाद समस्त यूरोप में क्रांति का ज्वार फूट पड़ता। बदले में स्वयं रूस में भी अभी विद्यमान ग्रामीण कम्यूनों के बल पर वहां समाजवाद का निर्माण हो सकता था-यूरोपीय सर्वहारा की मदद से।

इस सब बातों से दो चीजें स्पष्ट हैं। एक तो यही कि मार्क्स और एंगेल्स विश्व इतिहास की विशिष्ट व जटिल गति के प्रति पूरी तरह सजग थे। वे अच्छी तरह जानते थे कि विश्व इतिहास की सामान्य गति इन्हीं विशिष्ट व जटिल गतियों का परिणाम होती है। इन विशिष्ट व जटिल गतियों को विश्व इतिहास से निकाल देने पर उसमें सामान्य गति का कुछ नहीं बचता। पूंजीवाद के पिछले कुछ सौ सालों का विकास भी इसी तरह की विशिष्टताओं और जटिलताओं का परिणाम था जिसे सामान्य तौर पर **कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणा पत्र** में प्रस्तुत किया गया था। किसी एक देश में खोजने पर यह सामान्य तस्वीर कहीं नहीं मिलती।

दूसरे, मार्क्स औ एंगेल्स सबसे पहले कम्युनिस्ट क्रांतिकारी थे, समाज के विश्लेषक बाद में। क्रांति और कम्युनिस्ट समाज की स्थापना उनके जीवन का लक्ष्य था। उनका सामाजिक विश्लेषण समाज को बदलने के लिए था। इसीलिए वे क्रांति की हर संभावना को संज्ञान में लेते थे और उसे विस्तारित करने का प्रयास करते थे। वे इतिहास की सामान्य गति के भरोसे नहीं बैठते थे बल्कि इसे त्वरित करने की हर संभावना तलाशते थे। इसीलिए वे सुधारवाद के कट्टर दुश्मन थे।

लेनिन इन मायनों में मार्क्स-एंगेल्स के सच्चे अनुयायी थे। जहां दूसरे इंटरनेशनल के सूरमाओं ने अपने सुधारवादी चरित्र के अनुरूप मार्क्सवाद को केवल समाज विश्लेषण तक सीमित कर दिया था वहीं लेनिन ने विश्व क्रांति को आगे बढ़ाने के लिए हर संभव उपायों और संभावनाओं पर विचार किया। मजदूर वर्ग की पार्टी की अवधारणा से लेकर साम्राज्यवाद के चरित्र के विश्लेषण तक सभी जगह लेनिन का यही क्रांतिकारी स्वरूप मौजूद है। जब उन्होंने रूस में मजदूर वर्ग के नेतृत्व में बुर्जुआ जनवादी क्रांति सम्पन्न करते हुए समाजवादी क्रांति की ओर बढ़ने की थीसिस प्रस्तुत की या जब उन्होंने साम्राज्यवाद के युग में एक अकेले देश में क्रांति और समाजवाद की स्थापना की संभावना को रेखांकित किया तो इन सबमें लेनिन का यही क्रांतिकारी चरित्र परिलक्षित हो रहा था। लेनिन के विरोधी तब इतिहास की वस्तुगत गति का हवाला देकर स्थितियों के सामने समर्पण कर रहे थे और सुधारवाद की गोद में जा रहे थे।

लेनिन के नेतृत्व में जब तीसरे इंटरनेशनल का गठन हुआ तो उसने विश्व इतिहास को आगे बढ़ाने के इसी लेनिनवादी चरित्र को ग्रहण किया। जहां दूसरे इंटरनेशनल के सुधारवादियों ने विश्व इतिहास की वस्तुगत गति का हवाला देकर स्थितियों के सामने समर्पण कर दिया वहीं कम्युनिस्टों ने विश्व इतिहास को गति प्रदान की। सोवियत संघ में समाजवाद का निर्माण इसका एक हिस्सा था तो राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों में कम्युनिस्टों का नेतृत्व दूसरा। इन सबने मिलकर विश्व इतिहास को वह गति प्रदान की जिसकी वजह से हम आज यहां हैं। दूसरे

इंटरनेशनल के सुधारवादियों के हिसाब से चले होते तो शायद दुनिया आज भी औपनिवेशिक युग में होती और 'कल्याणकारी राज्य' का किसी ने नाम भी नहीं सुना होता।

पर उपरोक्त सबके बावजूद या उसके हिस्से के तौर पर एक अकेले और वह भी पिछड़े देश में समाजवाद के निर्माण की कीमत तो चुकानी ही थी। और सोवियत संघ ने तथा उसमें स्थापित समाजवाद ने यह कीमत चुकाई। शायद यह वह कीमत थी जो विश्व इतिहास को गति प्रदान करने के लिए चुकाई गई।

सबसे पहले तो एक अकेले देश को लें।

एक अकेले देश में समाजवाद के निर्माण का मतलब केवल इतना नहीं था कि वह देश बाकी देशों के सर्वहारा के साथ आदान-प्रदान, खासकर ज्यादा विकसित देशों के सर्वहारा के साथ आदान-प्रदान से वंचित हो गया। मामला इससे ज्यादा व्यापक और गंभीर था।

यदि रूस में मजदूर वर्ग द्वारा सत्ता पर कब्जा करने के बाद उसे अपने हाल पर छोड़ दिया गया होता तो वहां मजदूर वर्ग को समाजवाद का निर्माण करने में उतनी कठिनाईयों का सामना नहीं करना पड़ा होता। पर न ऐसा होना था और न हुआ।

रूस में मजदूर वर्ग द्वारा सत्ता पर कब्जा करने के बाद दुनिया भर की सारी शक्तियां इस सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए सक्रिय हो गईं। शुरुआती दौर में इसमें असफल होने के बाद इन्होंने रूस में सीधे सैनिक हस्तक्षेप कर दिया। अंततः रूस में चौदह देशों की सेनाएं गृह-युद्ध में प्रतिक्रांतिकारियों के साथ सक्रिय थीं। इसमें जर्मन सेनाएं भी थी जिनके साथ रूस ने संधि कर रखी थी। इन देशों के सैनिक हस्तक्षेप और समर्थन के कारण ही रूस में गृह-युद्ध एकदम भीषण हो उठा और उसने प्रथम विश्व युद्ध में पहले से तबाह रूस को और तबाह कर डाला। इस तबाही में खेती और उद्योग की तबाही के साथ स्वयं मजदूर वर्ग की तबाही बेहद अहं थी। इसने एक तरह से क्रांति पूर्व रूस के चेतना सम्पन्न क्रांतिकारी मजदूर वर्ग का सफाया कर दिया। रूस में समाजवाद के निर्माण की कठिनाईयों की चर्चा करते हुए प्रथम विश्व युद्ध और गृह-युद्ध की तबाही को ध्यान में रखना जरूरी है। गृह-युद्ध की समाप्ति के बाद पांच -सात साल तो केवल इस तबाही की भरपाई में ही लग गये।

पर एक अकेले देश की मुसीबत यहीं समाप्त नहीं हुई। गृह-युद्ध में नाकामयाब होने के बाद साम्राज्यवादियों और अन्य प्रतिक्रियावादी ताकतों ने रूस के साथ न तो सामान्य संबंध बहाल किये और न ही उसे उसके हाल पर छोड़ा। उन्होने बहुत धीमे-धीमे ही रूस के साथ राजनयिक संबंध बहाल किये और पहला मौका मिलते ही वे संबंध को तनावपूर्ण बना देते थे। इसी तरह रूस के भीतर तोड़-फोड़ के लिए षड्यंत्रकारियों को भांति-भांति की मदद देना उन्होंने जारी रखा।

आज इस तथ्य को भूल जाना या नजरअंदाज कर देना आसान है कि पूरे यूरोप में फासीवाद और नाजीवाद के उदय में रूसी क्रांति के विरोध की अहं भूमिका थी तथा इसमें रूस से भागे प्रतिक्रियावादियों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। रूस में प्रतिक्रांति और गृह-युद्ध का जो सिलसिला शुरू हुआ था वह समूचे यूरोप के पैमाने पर नाजीवाद-फासीवाद के हावी हो जाने के रूप में अपनी परिणति तक पहुंचा।

यहां यह भी याद रखना होगा कि इस सब में 'जनतांत्रिक' पूंजीपति वर्ग की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। उसने न केवल समूचे यूरोप के पैमाने पर फासीवाद-नाजीवाद को सत्तारूढ़ होने दिया बल्कि भरसक कोशिश की कि इसकी मदद से सोवियत संघ को कुचल दिया जाये। 1930 के दशक की शुरुआत से ही सोवियत संघ द्वारा फासीवाद-नाजीवाद का मुकाबला करने के लिए फ्रांस-ब्रिटेन और सं.रा. अमेरिका के साथ संयुक्त मोर्चा कायम करने का हर प्रयास इनके 'जनतांत्रिक' शासकों द्वारा नकार दिया गया। वे तो दूसरी ही उम्मीद पाले हुए थे।

उनकी उम्मीद अकारण नहीं थी। जैसा कि पता चला, फासीवादी-नाजीवादी साम्राज्यवादी देशों ने सोवियत संघ में बड़े पैमाने पर पैठ बना ली थी। उन्होंने वहां गद्दारों की एक पूरी फौज ही खड़ी कर ली थी जो पार्टी, सरकार से लेकर लाल सेना तक सब जगह घुसपैठ किये हुई थी। यदि समय रहते गद्दारों की इस फौज का सफाया नहीं किया गया होता तो सोवियत संघ का वही हाल होता जो जर्मन हमले के सामने फ्रांस का हुआ था। जहां गद्दारों की वजह से बिना लड़े ही समर्पण कर दिया गया।

एक अकेले समाजवादी देश ने अपने अस्तित्व की अंतिम लड़ाई हिटलर की जर्मन नाजीवादी सेना से लड़ी जो न केवल तब दुनिया की सबसे बड़ी सैन्य ताकत थी बल्कि समूचे महाद्वीपीय यूरोप पर कब्जा कर वह और भी ताकतवर हो उठी थी। विशाल और अद्धितीय कुर्बानियां देकर सोवियत समाजवाद ने अपनी श्रेष्ठता स्थापित की और न केवल अपनी हिफाजत की बल्कि दुनिया में पूंजीवादी जनतंत्र को भी बचाया। इसी प्रक्रिया में उसने अपने अकेलेपन को तोड़ दिया। लेकिन इस प्रक्रिया में सोवियत संघ ने जो तबाहियां झेलीं उसने सोवियत समाजवाद के लिए कुछ और जटिलताएं पैदा कर दीं।

कुल मिलाकर यह कि सोवियत संघ में एक अकेले देश में समाजवाद के निर्माण की समस्याएं केवल अन्य विकसित देशों के सर्वहारा से उन्नत संस्कृति और उत्पादक शक्तियां हासिल करने से वंचित रह जाने से संबंधित नहीं थीं। समस्याएं उससे भी भयंकर थीं-सैनिक हस्तक्षेप, घेरेबंदी, आंतरिक तोड़फोड़ और अंततः नाजीवादी हमला। सोवियत रूस और बाद में सोवियत संघ को कितनी ऊर्जा इससे निपटने में लगानी पड़ी आज इसका आकलन कर पाना मुश्किल है। इससे भी मुश्किल है इन सबका वहां समाजवाद के निर्माण पर पड़ने वाले प्रभाव का आकलन कर पाना। सोवियत समाजवाद की समस्याओं पर चर्चा करते हुए अक्सर ही इन तथ्यों को भुला दिया जाता

है। अक्सर ही चित्र कुछ इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है कि मानो लेनिन और स्तालिन शांत-चित्त ढंग से सोवियत संघ में समाजवाद का निर्माण कर रहे थे और शास्त्रीय मार्क्सवादी अवस्थितियों या अपनी खुद की पहले की अवस्थितियों (मसलन 'राज्य और क्रांति' में प्रस्तुत) से भटक रहे थे। यह सोचना और कहना तो और भी भद्दा होगा कि इन सबसे बचने का यही तरीका था कि वैश्विक क्रांति का इंतजार किया जाता।

एक अन्य कोण से देखें तो रूस की क्रांति विश्व इतिहास के एक खास मोड़ पर वैश्विक पूंजीवाद के ताने बाने को इतना तोड़ने में नाकामयाब रही कि वह अपना विस्तार कर सके। कभी सवा सदी पहले जब महान फ्रांसीसी क्रांति हुई थी तो उसने अपनी मुक्ति क्रांति के बाहर विस्तार में पाई थी। तब भी यूरोप की समस्त सामंती प्रतिक्रियावादी शक्तियां इसको कुचलने के लिए दौड़ पड़ी थीं। अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर फ्रांसीसी बुर्जुआ का प्रतिद्वन्द्वी ब्रिटिश रूढ़िवादी बुर्जुआ भी इनके साथ था। फ्रांसीसी क्रांति इनके मोर्चे के खिलाफ लड़ी और अंततः नैपोलियन के रूप में इसने यूरोपीय महाद्वीप में अपना विस्तार पाया। पर अंत में प्रतिक्रियावादी गठबंधन कामयाब हुआ और नैपोलियन को बंदी बनाकर उसने बूर्बों को फ्रांसीसी तख्त पर आसीन कर दिया। रूसी क्रांति ने भी अपने आरंभिक आवेग से यूरोप में क्रांतियों को जन्म दिया था। एक ओर यदि प्रतिक्रियावादी शक्तियां उसे कुचलने का प्रयास कर रही थीं तो दूसरी ओर क्रांति उनके यहां क्रांतियों को प्रेरित कर उन्हें चुनौती दे रही थी। पर युद्ध से तबाह रूस में वह ताकत नहीं बची थी कि वह अपने दम पर क्रांति का बाहर विस्तार कर पाता। ब्रेस्त-लितोव्स्क शांति संधि के समय त्रात्स्की-बुखारिन इत्यादि इसी का सपना देख रहे थे। पर लेनिन ज्यादा वस्तुनिष्ठ थे। इसीलिए वह इस बात पर दृढ़ थे कि रूसी क्रांति के लिए बेहतर यही होगा वह साम्राज्यवादी अंतर्विरोधों का इस्तेमाल कर अपने टिके रहने की जगह हासिल कर ले। क्रांति के विस्तार को वह अपने द्वारा उद्भूत प्रेरणा पर छोड़ दे। आने वाले गृहयुद्ध ने दिखाया कि लेनिन किस कदर सही थे जब क्रांति को अपनी सारी ताकत देश में टिके रहने में झोंक देनी पड़ी। फ्रांसीसी क्रांति से अलग रूसी क्रांति अपने गृहयुद्ध को बाहर विस्तारित करने की स्थिति में नहीं थी। केवल तीन दशक बाद जाकर ही वह द्वितीय विश्व युद्ध की तबाही झेलते हुए और उसमें विजय हासिल करते हुए बाहर विस्तार कर सकी। लेकिन उसके एक दशक बाद ही वहां बाहरी प्रतिक्रियावादियों के कारण नहीं बल्कि आंतरिक गति से बुर्जुआ वर्ग ख्रुश्चोवी संशोधनवादियों के रूप में सत्तासीन हो गया हालांकि इस सबमें उपरोक्त सारे बाहरी कारकों की भी अपनी अप्रत्यक्ष परन्तु अहं भूमिका थी।

एक अकेले देश में समाजवाद के निर्माण की समस्या को एक पिछड़े देश में समाजवाद के निर्माण की समस्या ने और विकट बनाया। अभी क्रांति से पहले तक रूस एक निरंकुश राजतंत्र था। हालांकि पूंजीवाद का अच्छा-खासा विकास हो गया था पर जनवाद के अभाव में उसका समूचा सांस्कृतिक विकास अटका हुआ था। धार्मिक जकड़न, औरतों की गुलामी, तथा राष्ट्रीयताओं के दमन इसके अहं पहलू थे। आर्थिक तौर पर देहाती आबादी की बहुलता इसकी प्रमुख विशेषता थी। क्रांति के बाद जमीनों के बंटवारे ने खेती में छोटी-मझोली खेती को प्रथम बना दिया था। कुल मिलाकर अर्थव्यवस्था में छोटी सम्पत्ति का बोलबाला था।

अभी तक समाजवादी संक्रमण की यही तस्वीर थी कि क्रांति के बाद मजदूर वर्ग की राज्य सत्ता बड़ी पूंजी का अधिग्रहण कर उसे राज्य की सम्पत्ति घोषित कर देगी तथा छोटी-मझोली पूंजी को मुआवजा देकर समय के साथ राज्य खरीद लेगा। इस सब में अंतर्निहित था कि समाज में आर्थिक तौर पर बड़ी पूंजी ही प्रधान थी। लेकिन रूस और सोवियत संघ में स्थिति अलग थी। यहां छोटी-मझोली सम्पत्ति की ही प्रधानता थी। इससे निपटना सोवियत समाजवाद के लिए एक जटिल समस्या साबित हुई।

इसमें मसले का एक पहलू और भी था। रूस का मजदूर वर्ग वैसे तो अभूतपूर्व रूप से क्रांतिकारी था। पर वह छोटी सम्पत्ति के समुद्र से घिरा हुआ था। इतना ही नहीं वह अभी गांवों की छोटी-मझोली खेती से सम्बद्ध था। यह संबद्धता बाद के दौर तक बनी रही जब सामूहिकीकरण के बाद भारी मात्रा में देहातों से शहरों की ओर आबादी आती रही। खेती के मशीनीकरण के बाद यह बढ़ता गया। इस तथ्य के कारण रूस के मजदूर वर्ग में भी पेटी बुर्जुआ विचारों का प्रभाव था जो अपनी बारी में समाजवादी निर्माण को भांति-भांति से प्रभावित करता था। इन प्रभावों पर हम बाद में विचार करेंगे।

राजनीतिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन को क्रांति ने एक झटके में काफी हद तक दूर किया था पर कुछ ऐसी चीजें थी जिनसे रातोंरात मुक्ति नहीं पाई जा सकती थी। रूस की विशाल आबादी की निरक्षरता इनमें से एक थी। एक उच्च संस्कृति का विकास अनपढ़ आबादी में नहीं किया जा सकता था। सोवियतों ने क्रांतिकारी निकाय के तौर पर अद्भुत तौर पर जनवाद का विकास किया था पर दूर देहातों में या तो सोवियतें थी ही नहीं या फिर उनमें धनी किसान हावी थे। यहां यह ध्यान रखने की बात है कि शहरों में फरवरी क्रांति के समय से ही सोवियतें क्रांति का निकाय थीं तथा अक्टूबर में बोल्शेविकों ने सोवियतों पर निर्भर करते हुए ही सत्ता पर कब्जा किया था पर जब अक्टूबर क्रांति के बाद सोवियत सत्ता ने जमीनों के बंटवारे का अधिकार किसानों को दिया तो यह बंटवारा किसानों की सोवियतों ने नहीं बल्कि पुरानी ग्राम समितियों यानी 'मीरों' ने सम्पन्न किया। गावों में सोवियतें बाद में ही गठित हो पाईं और उन्हें क्रांति के झंझावती दौर का अनुभव हासिल नहीं था।

सोवियत समाजवाद, खासकर सोवियत समाजवाद के संचालन तथा खास तौर पर कम्युनिस्ट पार्टी और मजदूर वर्ग के (साथ ही किसानों के) साथ संबंधों पर इसने निर्णायक प्रभाव डाला।

III

खेती और किसान

रूस में क्रांति के अलग-अलग दौर के लिए बोल्शेविक पार्टी ने किसानों के सम्बन्ध में अलग-अलग नीति अपनायी थी। बुर्जुआ जनवादी क्रांति के दौर में धनी किसानों समेत सारे किसान क्रांतिकारी वर्गों की पांतों में होने थे। क्रांति के आगे के विकास में जहां धनी किसान शत्रु वर्ग की श्रेणी में चले जाने थे वहीं मझोले किसानों की स्थिति ढुलमुल की हो जानी थी। एक बार सोवियत सत्ता के स्थापित हो जाने के बाद मझोले किसानों का ढुलमुलपन खत्म हो जाना था और मजदूर वर्ग के साथ उनके स्थाई संश्रय की संभावना पैदा होनी थी। बोल्शेविक पार्टी की नीति किसानों की क्रांति में इसी स्थिति के अनुरूप होनी थी।

लेकिन जैसा कि होता है, सामान्य कार्यनीतियों को व्यवहार में उतारते वक्त और भी जटिलताओं का सामना करना पड़ता है। रूसी क्रांति में भी यही हुआ।

हुआ यह कि फरवरी 1917 की बुर्जुआ जनवादी क्रांति ने किसानों के सवाल को हल नहीं किया। बुर्जुआ वर्ग ही नहीं, सत्तानशीन मेंशेविकों और समाजवादी क्रांतिकारियों द्वारा भी भूमि का सवाल बार-बार टाला जाता रहा। बाद में उसे संविधान सभा के जिम्मे डाल दिया जिसके चुनाव और अधिवेशन को स्वयं भी बार-बार टाला जाता रहा। यह सब तब था जब समाजवादी क्रांतिकारियों का अच्छा-खासा आधार किसानों में था।

इसका परिणाम यह हुआ कि जब बोल्शेविकों के नेतृत्व में मजदूर वर्ग ने सत्ता पर कब्जा किया तो भूमि वितरण का काम इस सत्ता के जिम्मे ही आया। सोवियत सत्ता के शुरूआती कुछ महीने देहातों में भूमि वितरण को ही समर्पित थे।

बोल्शेविक पार्टी का देहातों में आधार अत्यन्त सीमित था जबकि सोवियतें भी देहातों में, खासकर गावों में अनुपस्थिति थीं। केवल ऊपर के स्तर पर ही धनी किसानों और खाते पीते किसानों की प्रधानता वाली सोवियतें विद्यमान थीं जिनमें समाजवादी क्रांतिकारी हावी थे। ऐसे में सोवियत सत्ता को भूमि वितरण का काम किसानों के ही हवाले करना पड़ा जिसका व्यावहारिक मतलब था धनी किसानों के वर्चस्व वाली ग्राम समितियों के तहत भूमि का वितरण। इससे देहातों में धनी किसान और कुलक मजबूत ही हुए। इनके बढ़ते वर्चस्व को चुनौती देने के लिए खेत मजदूरों और गरीब किसानों की समितियां भी गठित की गईं जो बाद में ग्राम सोवियतों में समाहित कर दी गईं। जमीनों के वितरण का साथ ही यह भी परिणाम निकला कि देहातों में छोटे-मझोले किसानों की बहुतायत हो गई।

चूंकि किसानों को भूमि वितरण का काम तथा साथ ही सामंती तत्वों के सफाये का काम सोवियत सत्ता ने ही किया था इसलिए छोटे-मझोले किसान सोवियत सत्ता के दृढ़ हिमायती साबित हुए। गृह-युद्ध के अत्यन्त कठिन दिनों में भी ये सोवियत सत्ता के साथ खड़े रहे क्योंकि अनुभव ने उन्हें दिखाया कि पुरानी सत्ता की पुनर्स्थापना साथ ही पुराने भूमि सम्बन्धों की स्थापना की ओर भी ले जाती है।

पर सोवियत सत्ता के साथ छोटे-मझोले किसानों का संबंध इतना इकहरा भी नहीं था। गृहयुद्ध के दिनों में अतिरिक्त अनाज की वसूली ने उनमें असंतोष को और किसी हद तक प्रतिरोध को जन्म दिया। धनी किसानों ने उन्हें सोवियत सत्ता के खिलाफ भड़काने का पूरा प्रयास किया और इसका किसी हद तक प्रभाव भी पड़ा। गृहयुद्ध के दौरान सोवियत सत्ता की इस नीति ने उद्योग और कृषि के बीच के व्यापारिक संबंध को लगभग समाप्त ही कर दिया था क्योंकि किसानों के पास बाजार में बेचने के लिए कोई अनाज बचता ही नहीं था। सोवियत सत्ता स्वयं किसानों को कोई औद्योगिक आपूर्ति करने की स्थिति में थी नहीं। यह स्थिति मजदूर वर्ग और छोटे-मझोले किसानों के संश्रय को बुरी तरह तनावग्रस्त बना रही थी।

गृहयुद्ध जब समाप्त हुआ तो समस्या की विकरालता सामने आ गई। गृहयुद्ध के दौरान प्रतिक्रांति के भय से छोटे-मझोले किसान सब कुछ सहते आ रहे थे। अब वह भय जाता रहा था। अब उनका असंतोष खुलकर अभिव्यक्त होने लगा। क्रोन्साद्त विद्रोह की घटना ने इसे अत्यन्त तीखे रूप में अभिव्यक्त किया जिसमें भाग लेने वाले नाविक अभी हाल ही में किसानों में से भर्ती हुए थे। ये वे नाविक नहीं थे जिन्होंने अक्टूबर क्रांति में भाग लिया था।

इन्ही स्थितियों में लेनिन ने नयी आर्थिक नीति प्रस्तावित की जिसका एक उद्देश्य शहर और देहात के, उद्योग और कृषि के टूटे हुए सम्बन्धों को बहाल करना था। साथ ही इसका उद्देश्य मजदूर वर्ग और छोटे-मझोले किसानों के संबंधों में आये तीखे तनाव को भी समाप्त करना था। खेती में अभी सामूहिकीकरण की बात सोची भी नहीं जा सकती थी।

नयी आर्थिक नीति ने छः-सात सालों में सामान्य स्थिति बहाल कर दी। औद्योगिक उत्पादन भी युद्ध पूर्व की स्थिति में पहुंचने लगा था। अब वक्त आ गया था कि कृषि में समाजवादी संबंधों की ओर बढ़ा जाये।

शास्त्रीय मार्क्सवाद शुरू से ही किसानों की जटिल समस्या से जूझता रहा था। मार्क्स-एंगेल्स ने **कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र** में इसे प्रतिक्रियावादी वर्गों की श्रेणी में रखा था तथा मार्क्स ने लूई बोनापार्त की तानाशाही का मूल फ्रांस में छोटे-मझोले किसानों की बहुलता में देखा था। किसानों के मामले में मार्क्स का आलू के बोरे वाला कथन मशहूर है यानी किसान एक ही जगह रहते हुए भी अपने मूल अस्तित्व में अलग-थलग रहते हैं। उनका मजदूरों की तरह आपस में जैविक सम्बन्ध नहीं होता। तथापि, इन सबके बावजूद मार्क्स ने 1856 में

ही यह बात की थी कि यदि मजदूर वर्ग को किसानों का समर्थन मिल जाये तो जर्मन क्रांति को विस्तार मिल सकता था। बाद में छोटे-मझोले किसानों के साथ मजदूर वर्ग के संश्रय की बात की गई-बिना किसानों को इस बात का वायदा किये कि मजदूर वर्ग उनकी वर्तमान छोटी सम्पत्ति को बचाये रखने के लिए संघर्ष करेगा। मजदूर वर्ग केवल इतनी ही कोशिश करेगा कि बड़ी पूंजी के खिलाफ उसका संघर्ष ज्यादा न्यायपूर्ण स्थितियों में चले। यह माना गया कि सत्ता पर कब्जा करने के बाद मजदूर वर्ग छोटे-मझोले किसानों को सहकारिता की ओर बढ़ने की ओर प्रेरित करेगा और उसकी सत्ता उसे भौतिक प्रोत्साहन प्रदान करेगी। कम या ज्यादा समय में ही छोटे-मझोले किसानों के समाजवादी सम्पत्ति संबंधों की ओर जाने की कल्पना की गई।

क्रांतिकारी रूस के लिए भी लेनिन ने नयी आर्थिक नीति के काल में छोटे-मझोले किसानों के लिए सहकारिता के इसी रास्ते को उपयुक्त माना। यह देखते हुए कि रूस में क्रांति से पहले भी सहकारिता की एक परम्परा थी, इसे अपेक्षाकृत आसान रास्ता माना गया।

कुछ आलोचकों का कहना है कि लेनिन ने सहकारिता के द्वारा आगे बढ़ने की जो नीति प्रस्तावित की थी यदि उसे लम्बे काल खण्ड में लागू किया गया होता तो किसानों के मामले में सोवियत संघ जिस विपदा से गुजरा उससे बचा जा सकता था। इनके अनुसार इस सही नीति को त्यागकर स्तालिन के नेतृत्व में जबर्दस्ती सामूहिकीकरण का रास्ता पकड़ा गया जिसने किसानों को भारी विपदा में धकेला। करोड़ों की संख्या में छोटे-मझोले किसानों को कुलक घोषित कर उन्हें निर्वासित किया गया। लाखों की संख्या में लोग इस प्रक्रिया में मारे गये। इस जबर्दस्ती सामूहिकीकरण का यह परिणाम निकला कि खेती की उपज घट गयी और सोवियत खेती हमेशा के लिए संकट ग्रस्त हो गई। इतना ही नहीं। यह जबर्दस्ती सामूहिकीकरण मुख्यतः औद्योगीकरण के लिए पूंजी जुटाने के लिए किया गया था-'समाजवादी' आदिम संचय- इसलिए किसान उसी स्थिति में पहुंच गये जहां वे शुरूआती पूंजीवाद में थे। कुछ आलोचक तो और आगे गये और उन्होंने सोवियत किसानों को नये तरह का भूदास घोषित कर दिया-सोवियत सत्ता के भूदास। इनकी जिन्दगी को सोवियत सत्ता उसी तरह नियंत्रित और संचालित करती थी जैसा जारशाही के दिनों की भूदासता में होता था। साम्राज्यवादी और संशोधनवादी इन सब बातों को दोहराते नहीं थकते। कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों में भी सोवियत सामूहिकीकरण को लेकर अक्सर असहज स्थिति नजर आती है।

जैसा कि हमेशा होता है, इस तरह की बातों में एक सत्यांश होता है जो वस्तुस्थिति का गौण पहलू होता है। क्रांति विरोधी इस गौण पहलू को प्रधान पहलू बना देते हैं और उसे ही एकमात्र सच्चाई घोषित कर देते हैं। कहने की बात नहीं कि यह उनके वर्गीय हितों की सेवा के लिए किया जाता है।

सोवियत संघ में खेती का सामूहिकीकरण सोवियत सत्ता का एक ऐसा लक्ष्य था जिसकी पूर्ति के बिना सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण का कार्य पूरा नहीं हो सकता था। केवल इतना ही नहीं। आबादी के बहुलांश को लम्बे समय तक छोटी सम्पत्ति के मालिक की अवस्था में नहीं छोड़ा जा सकता था क्योंकि यह स्वतः ही बुर्जुआ संबंधों और बुर्जुआ वर्ग की पुनर्स्थापना की ओर ले जाने का खतरा पैदा करती थी।

हालांकि सोवियत संघ में सहकारिता धीमे-धीमे बढ़ रही थी पर यह पाया गया कि नयी आर्थिक नीति के तहत देहातों में सामान्य आर्थिक स्थिति बहाल हो जाने के बाद क्रांति विरोधी तत्वों का खतरा तेजी से बढ़ने लगा था। कुलक न केवल खेत मजदूरों और गरीब किसानों का शोषण कर रहे थे बल्कि वे और भी आगे जाकर सोवियत सत्ता के खात्मे का सपना देखने लगे थे। 1927-28 के वर्षों में सोवियत सत्ता को अनाज बेचने के मामले में उनका प्रतिरोध बहुत बढ़ गया था।

इन स्थितियों में सोवियत सत्ता को खतरे में डाले बिना सामूहिकीकरण को और ज्यादा नहीं टाला जा सकता था। अंततः पार्टी के भीतर बुखारिन-तोम्स्की जैसे दक्षिणपंथियों के प्रतिरोध को ध्वस्त करते हुए कुलकों के वर्ग के तौर पर खात्मे तथा पूर्ण सामूहिकीकरण का निर्णय ले लिया गया।

स्वभावतः ही निजी सम्पत्ति से बहुत गहराई से जुड़े छोटे-मझोले किसानों के लिए सामूहिकीकरण कोई आसान चीज नहीं थी। अभी हाल ही में वे सामंती बंधनों से मुक्त होकर खुद के स्वामी बने थे और जमीनें पाई थीं। देहातों में सामान्य आर्थिक हालात बहाल होने के बाद वे भी कुलकों की तरह धनी बनने का सपना देखने लगे थे। इनके ऊपरी हिस्से अपने उपभोग से कुछ ज्यादा पैदा कर बाजार में बेच रहे थे और निवेश कर रहे थे।

कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत सत्ता ने इन किसानों को समझा-बुझाकर सामूहिक फार्मों में शामिल करने की नीति अपनाई थी। पर जहां गरीब किसान खुशी-खुशी सामूहिक फार्मों में शामिल हो रहे थे वही छोटे-मझोले किसान इसमें कठिनाई महसूस कर रहे थे। निजी सम्पत्ति से जुड़ाव उन्हें रोक रहा था।

पर समय के साथ जैसे-जैसे सामूहिकीकरण के अभियान ने जोर पकड़ा वैसे-वैसे छोटे-मझोले किसानों की झिझक टूटने लगी। वे बड़ी संख्या में सामूहिक फार्मों में शामिल होने लगे।

इतने बड़े विश्व-ऐतिहासिक अभियान में कुछ गलतियां होनी थीं और वे हुईं। खासकर सोवियत संघ की विशिष्ट स्थिति में उनकी संभावना भी ज्यादा थी।

यदि क्रांति के बाद भूमि वितरण के साथ ही सामूहिकीकरण की ओर बढ़ा गया होता तो शायद यह आसान होता। तब छोटी-मझोली किसानी को उतना जड़ीभूत होने का मौका नहीं मिलता। पर सोवियत संघ में विश्व युद्ध और खासकर गृहयुद्ध की तबाही के

बाद इस ओर बढ़ना तत्काल संभव नहीं था। इतना ही नहीं सोवियत सत्ता को एक योजना के तहत पीछे हटकर पूंजीवादी संबंधों को छूट देनी पड़ी थी। ठीक इन्हीं वजहों से कुलकों को भी मजबूत होने का मौका मिला था जो छोटे-मझोले किसानों पर गहरा प्रभाव डाल रहे थे।

इन हालात में ऐसा हुआ कि जो छोटे-मझोले किसान सामूहिक फार्मों में शामिल होने में हिचक दिखा रहे थे उनके साथ कहीं-कहीं जबर्दस्ती की गयी। धैर्यपूर्वक उन्हे समझा बुझा कर राजी करने के बदले प्रशासनिक तरीकों का प्रयोग किया गया-खासकर उन्हें कुलक घोषित कर देने का भय दिखाया गया जिन्हें सामूहिकीकरण के दौरान बेदखल कर दिया जाता था। यह भी हुआ कि सामूहिकीकरण के अभियान में जल्दबाजी की गई और सुदृढ़ीकरण पर उतना ध्यान नहीं दिया गया। कुछ निजी सम्पत्ति के लालच में और कुछ इन गलतियों के प्रभाव में छोटे-मझोले किसानों ने खेती के काम में आने वाले जानवरों, मसलन घोड़ों को सामूहिक फार्म में देने के बदले उन्हें काट कर खा जाने का काम किया जिसने मशीनीकरण के पहले सामूहिक फार्मों के काम को प्रभावित किया।

जब 1930 की शुरुआत में इन गलतियों ने विकराल रूप धारण किया तो स्तालिन के नेतृत्व में पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने इन्हें दुरुस्त करने के लिए कदम उठाये। स्तालिन ने 'सफलता से उन्मत्त' लेख लिखा तो केन्द्रीय कमेटी ने बाकायदा एक सर्कुलर जारी किया। गंभीर गलतियां करने वाले कार्यकर्ताओं को हटा देने तक का निर्णय लिया गया। तय पाया गया कि ज्यादा सुदृढ़ीकरण के साथ आगे बढ़ा जाय। इसके तहत आनन-फानन में गठित किये गये सामूहिक फार्मों को पुनर्गठित किया गया। जहां उत्पादन के साधनों के अलावा अन्य चीजों मसलन मुर्गियों और सुअरों को भी सामूहिक फार्म की सम्पत्ति बना दिया गया था उसे ठीक किया गया। यह स्पष्ट किया गया कि अभी दौर सामूहिकीकरण का है न कि कम्यून निर्माण का।

बहुत सारे आलोचकों का कहना है कि पार्टी नेतृत्व द्वारा सामूहिकीकरण के दौरान हो रही गलतियों को दुरुस्त करने की ये बातें असल में वस्तुगत स्थिति पर पर्दा डालने या अपनी जिम्मेदारियों से बचने के लिए थीं। व्यवहार में चीजें बदस्तूर जारी रहीं। पर ये ऐसे आरोप हैं जो हमेशा ही लगाये जा सकते हैं और जिनके लिए प्रमाणों की जरूरत भी नहीं होती। जहां तक वस्तुगत स्थिति की बात है, उस समय सोवियत संघ में मौजूद सभी विदेशी पर्यवेक्षकों ने सामूहिकीकरण पर कुछ न कुछ लिखा। पर उसमें से कुछ वैचारिक विरोधियों को छोड़कर बाकी ने उस जोर जबर्दस्ती और किसानों के ऊपर अत्याचार का वर्णन नहीं किया जिसके किस्से विरोधियों द्वारा आज भी सुनाये जाते हैं। न ही किसी ने आज तक यह कहा है कि किसानों ने सामूहिकीकरण के खिलाफ बड़े पैमाने के विद्रोह किये जो बहुलांश आबादी के साथ जोर-जबर्दस्ती की स्थिति में लाजिमी थे। उस समय सोवियत संघ के देहातों में कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों और सोवियत कारकूनों की संख्या बेहद कम थी। सोवियत मिलिशिया भी कम संख्या में थी। ऐसे में बड़े पैमाने का विद्रोह बेहद सामान्य बात होती। रूस के क्रांतिकारी इतिहास को देखते हुए यह और भी सामान्य बात होती। पर ऐसा नहीं हुआ। ऐसा इसलिए नहीं हुआ क्योंकि सोवियत सामूहिकीकरण में जोर-जबर्दस्ती का पहलू प्रधान पहलू नहीं था। ऐसा इसलिए भी नहीं हुआ कि छोटे-मझोले किसान सोवियत सत्ता को अपनी ही सत्ता मानते थे।

सामूहिकीकरण की प्रक्रिया को वस्तुगत तौर पर समझने के लिए यह याद रखना होगा कि सामूहिकीकरण भी एक क्रांतिकारी वर्ग-संघर्ष था। समाजवादी क्रांति की जो प्रक्रिया रूस में मजदूर वर्ग द्वारा सत्ता पर कब्जा करने से शुरू हुई थी वह अब देहातों में आगे बढ़ रही थी। क्रांति के तुरंत बाद देहातों में कोई समाजवादी कदम नहीं उठाये गये थे-सिवाय कुछ राजकीय कृषि फार्मों के गठन के। अब सत्ता पर कब्जे के दस साल बाद वर्ग संघर्ष एक चरण में पहुंच रहा था-व्यक्तिगत खेती के खात्मे के रूप में। अभी यह खेती में निजी सम्पत्ति का पूरी तरह खात्मा नहीं था। पर अब निजी सम्पत्ति भी सामूहिक रूप में होनी थी। इसी में इसका समाजवादी चरित्र भी निहित था।

देहातों में इस समाजवादी क्रांति का सीधा निशाना धनी किसान या कुलक थे। उन्हें उनकी सम्पत्ति से बेदखल कर नयी जगह पर काम के लिए परिवार समेत भेज दिया जाता था। वे सामूहिक फार्मों में शामिल नहीं हो सकते थे। सोवियत सामूहिकीकरण के दौरान किसानों की बर्बादी-तबाही की जो कहानियां प्रचलित हैं वे मुख्यत: धनी किसानों से सम्बन्धित हैं जिन्हें उनके वर्गीय मूल से काटकर आम किसानों के रूप में पेश कर दिया जाता था। सोवियत संघ की विशाल खेतीहर आबादी में इनकी संख्या पचासों लाख बन जाती थी। पर न तो इनका कत्लेआम किया गया और न ही सारे मारे गये। इनमें कुछ थोड़े ही मृत्युदंड का शिकार हुए जिन्होंने सोवियत सत्ता के खिलाफ तोड़-फोड़ की कार्यवाही में सीधा भाग लिया था। अन्य सारे लोग नयी जगह या तो खेती या अन्य काम करने लगे हालांकि वे मताधिकार से वंचित थे। पर जल्दी ही 1936 में नये संविधान के लागू होने के साथ इन्हें भी मताधिकार में शामिल कर लिया गया।

यह सोचना कि समाजवादी क्रांति का यह चरण यानी खेती का सामूहिकीकरण बिना तीखे वर्ग-संघर्ष के, खून-खराबे और प्रतिरोध-दमन के सम्पन्न हो सकता था, क्रांति को, खासकर समाजवादी क्रांति को समझने से इंकार करने के बराबर है। देहातों में धनी किसान या कुलक वर्ग शत्रु थे और समाजवादी क्रांति उनसे शत्रुओं की तरह ही निपट सकती थी। उनसे मित्रों की तरह निपटने की मांग करने का मतलब समाजवादी क्रांति का त्याग करने के बराबर है, वही मांग जो बुखारिन और तोम्स्की कर रहे थे। हर असली क्रांति की तरह इसमें जान-माल का नुकसान होना था और वह हुआ। इस पर टेसुए बहाने का काम केवल क्रांति विरोधी या कूपमण्डूक पेटी बुर्जुआ बुद्धिजीवी ही कर सकते हैं।

देहातों में हो रही इस समाजवादी क्रांति में छोटे-मझोले किसान सर्वहारा के दृढ़ संश्रयकारी थे। पर जैसा कि क्रांतिकारी संघर्षों में होता है शत्रु वर्ग के खिलाफ दमन की छायाएं उसके पास के उन वर्गों पर भी पड़ती है जो अन्यथा क्रांति के मित्र होते हैं। मझोले किसानों के उन लोगों पर, जो धनी किसानों के ज्यादा नजदीक थे, ये छायाएं ज्यादा पड़ती थीं। और जैसा कि क्रांतियों में हमेशा ही होता है, कुछ

मासूम-निर्दोष लोग भी क्रांतिकारी दमन के शिकार हो जाते हैं। कोई भी क्रांति इसके बिना परवान नहीं चढ़ती। सोवियत सामूहिकीकरण भी इसका अपवाद नहीं हो सकता था।

क्रांति विरोधियों से भिन्न जब भी सोवियत क्रांति के शुभचिंतकों द्वारा सामूहिकीकरण के दौरान जोर-जबर्दस्ती व ज्यादतियों पर जोर दिया जाता है तो उसमें सदा ही यह तथ्य भुला दिया जाता है कि यह शांतिपूर्ण ढंग से चलने वाली कोई प्रक्रिया नहीं थी। यह एक क्रांतिकारी वर्ग संघर्ष था जो सोवियत संघ की बहुलांश आबादी को समेटता था। यह एक ऐसा क्रांतिकारी वर्ग-संघर्ष था जिसमें एक ऐसे शत्रु से निपटना था जो अपनी संख्या में बड़े पूंजीपति वर्ग के मुकाबले बहुत ज्यादा था। और यह कि बहुत सारे व्यावहारिक मामलों में क्रांति का मित्र छोटा और मझोला किसान इसी तरह का था। कई बार तो मझोले किसान और धनी किसान की सीमाएं धुंधली होने लगती थीं।

इन सबमें यह भी था कि सोवियत संघ में सामूहिकीकरण का यह काम इतिहास में पहली बार हो रहा था। सबक लेने के लिए पहले का कोई अनुभव नहीं था। जब दो दशक बाद चीन में सामूहिकीकरण किया गया तो सोवियत संघ का यह अनुभव बहुत काम आया।

सोवियत संघ में सामूहिकीकरण से पहले और बाद में खेती के उत्पादों और औद्योगिक उत्पादों के दामों को कुछ इस तरह निर्धारित किया गया कि खेती से एक अतिरिक्त हिस्सा उद्योगों को स्थानांतरित होता था। साथ में खेती पर लगने वाला कुछ कर भी था। ये सब कुछ मिलाकर खेती से खिराज वसूले जाने की स्थिति पैदा करते थे।

सोवियत संघ में औद्योगीकरण के लिए खेती से खिराज वसूले जाने वाले तथ्य को छिपाया नहीं गया। इसके उलट इसे साफ-साफ स्वीकार किया गया। स्वयं मजदूर वर्ग को उसके उत्पाद का सारा हिस्सा तनख्वाहों के रूप में नहीं मिल जाता था। बल्कि उसके अतिरिक्त उत्पाद का एक हिस्सा उत्पादन के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए संचित किया जाता था। यह भविष्य के लिए संचित किया जाता था। यह भविष्य के लिए वर्तमान का बलिदान था। मजदूरों की तरह किसान समुदाय से भी उम्मीद की जाती थी कि वह अतिरिक्त उपज का एक हिस्सा न केवल अपने सामूहिक फार्म में निवेशित करेगा बल्कि उसका एक हिस्सा आम औद्योगीकरण के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए भी देगा। यह इसलिए कि औद्योगीकरण बढ़ने पर खेती में प्रयुक्त होने वाली मशीनों तथा अन्य आगतों को ज्यादा से ज्यादा मात्रा में उपलब्ध कराने में मदद मिलती।

पूंजीवाद में बहुत बड़े पैमाने पर तथाकथित आदिम संचय किसानों की सम्पत्ति का हरण कर या उनसे खिराज वसूल कर किया गया था। खेतिहर देशों में यह प्रक्रिया आज भी जारी है जहां बेदखली के जरिये संचय हो रहा है। किसानों की तबाही-बर्बादी इसका अनिवार्य हिस्सा है। हां, इस प्रक्रिया में कुछ धनी किसान पूंजीवादी फार्मरों में रूपान्तरित हो जाते हैं। यह पूंजीवाद में धन-सम्पदा के ऊपर की ओर संकेन्द्रण की आम प्रक्रिया का हिस्सा होता है।

पर सोवियत संघ में खिराज वसूली इस तरह नहीं की गई जो किसानो को तबाही-बर्बादी की ओर ले जाती। धनी किसानों का सम्पत्तिहरण समाजवादी क्रांति का हिस्सा था जिसे किसानों की तबाही बर्बादी का नाम नहीं दिया जा सकता। जहां तक सामूहिक फार्मों के किसानों का सवाल है, उनका जीवन-स्तर पहले के मुकाबले हर तरह से उठता गया। उनका सांस्कृतिक स्तर भी हर तरह से उठता गया। खासकर किसान औरतों के मामले में जीवन में यह बदलाव इतना अभूतपूर्व था कि वे सोवियत समाजवाद की सबसे दृढ़ समर्थकों में हो गईं। सामूहिकीकरण ने घर-बाहर के काम के दोहरे बोझ से लदे हुए उनके अत्यन्त निम्न स्तरीय जीवन को एक झटके से एक नये युग में पहुंचा दिया।

यह कहा जा सकता है कि सोवियत किसानों से खिराज वसूली की यह मात्रा कम की जा सकती थी और उनके जीवन स्तर को और बेहतर बनाने के लिए थोड़ी और मात्रा उनके पास छोड़ी जा सकती थी। शायद यह किया जा सकता था। पर इसका असर औद्योगीकरण की रफ्तार पर पड़ता। द्वितीय विश्व युद्ध के आसन्न खतरे को देखते हुए यह कठिन फैसला था

जो लोग सोवियत सामूहिक फार्मों में किसानों के जीवन को एक नये तरह की भूदासता घोषित करते हैं वे वस्तुतः फ्रेडरिक वान हयेक (**भूदासता की ओर** किताब के लेखक) की तर्ज पर समाजवाद को या यहां तक कि किसी भी राजकीय हस्तक्षेप या नियंत्रण को भूदासता मानते हैं। जैसा कि किसी भी योजनाबद्ध समाज में होगा, उसके हर व्यक्ति पर इस या उस तरह के प्रतिबंध होंगे। एक अकेला दस्तकार या किसान अपनी मर्जी का मालिक हो सकता है (हालांकि वह भी भांति-भांति की सामाजिक और प्राकृतिक शक्तियों के अधीन होता है)। पर एक फैक्टरी मजदूर उत्पादन प्रक्रिया में और इसी कारण उपभोग में अपनी मर्जी का मालिक नहीं हो सकता। वह केवल सामूहिक तौर पर ही, समूह में ही सारी चीज का मालिक हो सकता है। लेकिन यह साथ ही उसकी स्वच्छंदता को खत्म कर उसे निश्चित सीमाओं में बांध देती है। पेटी बुर्जुआ बुद्धिजीवियों को यह गुलामी लग सकती है। पर असल में यही स्वतंत्रता का एक मात्र रास्ता है। सामूहिकता के नियमों-सीमाओं का पालन ही व्यक्ति की स्वतंत्रता का माध्यम है।

सामूहिक फार्मों के बारे में भी यही सच था। न तो सामूहिक फार्म का कोई किसान मनमर्जी से चल सकता था और न ही सामूहिक कार्य मनमर्जी से चल सकते थे। व्यक्तिगत किसान सामूहिक फार्म की व्यापक योजना के हिसाब से ही चल सकता था और सामूहिक फार्म सारे समाज की योजना के हिसाब से ही चल सकते थे। समाजवादी समाज का एक घटक होने के चलते सामूहिक फार्म पूरे समाजवादी समाज की आम योजनाबद्धता से बंधे हुए थे (हालांकि वे पूरे समाज की सम्पत्ति होने के बदले अपने-अपने किसानों की सामूहिक

मिल्कियत होते थे)। यह केवल कुलकों या उनके नुमाइंदों को ही भूदासता का रूप लग सकता था। सच्चाई यह थी कि पूरे समाज की योजना के निर्माण में सामूहिक फार्म भागीदारी करते थे और किसान हरेक मुद्दे पर लम्बी-लम्बी बहसें कर मसले को तय करते थे।

किसानों के जीवन में सामूहिक फार्मों द्वारा इस क्रांतिकारी बदलाव के बावजूद यह स्वीकार करना होगा कि किसानों की निजी सम्पत्ति से जुड़ी हुई कुछ समस्याएं बनी रहीं और उन्होंने सोवियत कृषि ही नहीं समूचे तौर पर सोवियत समाजवाद को प्रभावित किया।

सोवियत सामूहिक फार्मों के किसानों को यह छूट दी गई थी कि अपने पास खेती का एक छोटा टुकड़ा रख कर उसमें साग-सब्जियां और फल-फूल उगा सकें। इसी तरह उन्हें मुर्गियां, सूअर और गाय पालने की छूट दी गई थी। जहां सूअरों और गायों की संख्या तय थी वहीं मुर्गियों की कोई सीमा नहीं थी। यह इस सोच के साथ किया गया था कि यह किसानों की सामूहिक फार्मों से होने वाली आय को प्रतिपूरित करेगा।

पर असल में तो यह किसानों की निजी सम्पत्ति की आकांक्षा को किसी हद तक छूट देना ही था। इसका नकारात्मक परिणाम यह होता था किसान सामूहिक फार्म के काम की कीमत पर अपने इन निजी उद्यमों में लगते थे। इससे न केवल सामूहिक फार्मों का उत्पादन प्रभावित होता था बल्कि वहां और कठोर नियम लागू करने पड़ते थे। समाजवादी भावना के बदले वहां पूंजीवादी नियमों का अपनाना पड़ता था। कुल मिलाकर यह समाजवादी भावना का क्षरण करता था या कम से कम उसे ऊपर उठाने के रास्ते में बाधा बनता था।

किसानों की निजी सम्पत्ति की उत्तरजीविता का केवल यही एक परिणाम नहीं था। इसका दूसरा और ज्यादा गंभीर परिणाम यह था कि ये सामूहिक फार्म पूरे स्तालिन काल में राज्य की सम्पत्ति नहीं बन पाये। वे अपने-अपने किसानों की सामूहिक सम्पत्ति ही बने रहे। बाद में ख्रुश्चोव ने तो उल्टी प्रक्रिया ही शुरू कर दी।

सामूहिक फार्मों का इस तरह बना रहना सोवियत समाजवाद को समाजवाद के उच्च स्तर पर पहुंचने से रोकता था जहां उत्पादन के सारे साधन राज्य की सम्पत्ति होते हैं और राज्य सारे समाज का प्रतिनिधित्व करता है। यहां से साम्यवाद की ओर की वह यात्रा शुरू होती है जिसमें राज्य तिरोहित होना शुरू होता है और पूरा समाज स्वयं ही उत्पादन के साधनों का मालिक बनने लगता है। समाजवाद के विकास की इस अवस्था में उत्पादन के साधनों के वितरण में माल-मुद्रा का चलन गैर-जरूरी हो जाता है तथा उनका वितरण एक सामाजिक योजना के तहत हो सकता है। इस अवस्था में अब भी बुर्जुआ अधिकार बने रहते हैं ('हर एक से उसकी योग्यतानुसार, हर एक को उसके काम के अनुसार') पर अब उन्हें लगातार सीमित करते हुए खत्म करने की ओर बढ़ा जा सकता है। यह उपभोग के साधनों के वितरण के मामले में भी माल-मुद्रा के चलन को क्रमशः सीमित करते जाना संभव बना देता है क्योंकि उत्पादक शक्तियों के विकास और तदनुरूप उत्पादन के विस्तार के साथ उपभोग के अधिकाधिक साधनों को समूची जनता को 'मुफ्त' में उपलब्ध करा पाना संभव होता चला जाता है।

सोवियत समाजवाद इस अवस्था से अभी बहुत दूर था। और इसमें सामूहिक फार्मों की उपस्थिति की बड़ी भूमिका थी। भले ही समस्त सामाजिक उत्पादन में कृषि का हिस्सा लगातार घटता चला जा रहा था। और इस पर निर्भर आबादी भी घटती चली जा रही थी पर तब भी स्तालिन काल के अंत में भी दोनों ही मामलों में अभी इनका योगदान बहुत महत्वपूर्ण था। यह सोवियत समाजवाद में न केवल उत्पादन के साधनों मे निजी सम्पत्ति के एक बदले हुए रूप को बनाये रख रहा था बल्कि यह पूरे समाज में माल-मुद्रा के चलन को बहुत बढ़ा देता था। यह सोवियत समाजवाद की आगे की प्रगति को बाधित करता था। स्तालिन काल के अंत तक इसका समाधान नहीं खोजा जा सका।

सोवियत सामूहिक फार्मों की इन सीमाओं और इनके द्वारा पैदा की जा रही समस्याओं के बावजूद यह सच है कि सामूहिक फार्मों ने बड़ी सफलताएं हासिल कीं और इन्होंने देहातों में एक नयी सभ्यता को जन्म दिया। इनकी सफलता का एक प्रमाण तो यही है कि स्तालिन के बाद संशोधनवाद के चार दशक और उसके बाद खुले पूंजीवाद के ढाई दशक बीत जाने के बाद भी रूस में सामूहिक फार्मों के बड़े अवशेष बचे हुए हैं। आज भी रूस में लगभग आधी खेती कारपोरेट फार्म के रूप में है जो खुले पूंजीवाद के दौर में सामूहिक फार्म के नये अवतार हैं। संशोधनवाद के समूचे दौर में सामूहिक फार्म बने रहे। जब खुले पूंजीवाद का दौर आया तो निजीकरण की आम मुहिम के तहत सामूहिक फार्मों का निजीकरण करने का प्रयास किया गया। पर ज्यादातर लोगों ने निजी खेती करने से इंकार कर दिया। ऐसे में सामूहिक फार्म के सदस्यों को ही 'शेयर होल्डर' बनाकर सामूहिक फार्मों को कारपोरेट फार्मों में तब्दील कर दिया गया जिसमें किसान निश्चित घंटों में निश्चित काम करते हैं। वे एक व्यक्तिगत किसान के सारे झंझटों से मुक्त रहते हैं। किसी असफल चीज की इतनी उत्तरजीविता संभव नहीं है।

IV

उद्योग

यदि सोवियत समाजवाद में खेती और सामूहिक फार्मों की सफलता पर सवाल उठते रहे हैं तो उद्योग का मामला बिलकुल उलटा रहा है। वहां औद्योगीकरण की सफलता पर विरोधियों को भी शक नहीं था। सोवियत समाजवाद की चमत्कारिक सफलता का अधिकांश

औद्योगीकरण की सफलता पर टिका हुआ था। कुछ समय बाद जब द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान इस औद्योगीकरण की भीषण अग्नि परीक्षा हुई तब यह उस में से अपनी लाल पताका को और भी बुलंद करते हुए बाहर आया।

पर सोवियत औद्योगीकरण पर संदेह न होते हुए भी इस पर भांति-भांति के कई सवाल उठे। इसमें एक तो यही था कि यह किसानों और खेती से भारी कीमत वसूल कर किया गया था। दूसरा यह था कि इस औद्योगीकरण में भारी उद्योग पर अतिशय जोर था और मध्यम तथा छोटे उद्योगों को नजरअंदाज किया गया। इसके साथ यह भी कि इसमें उत्पादन के साधन पैदा करने पर ही सारा जोर था, उपभोग के साधनों को दोयम दर्जे पर रखा गया था। कुछ तो और भी आगे जाते हैं तथा आरोप लगाते हैं कि यह संचय के लिए संचय था। इसी कारण इसमें असंतुलन, अतिउत्पादन तथा भारी मात्रा में बर्बादी थी। ठीक इसी कारण इसमें योजनाबद्धता के बदले असल में अराजकता थी। कुल मिलाकर यह कि समाजवादी औद्योगीकरण न होकर यह बदले हुए रूप में पूंजीवादी औद्योगीकरण ही था जो एक सर्वसत्तावादी राज्य द्वारा मजदूरों और किसानों की कीमत पर किया गया था। इस रूप में यह अपने समकालीन जापान, जर्मनी और इटली से भिन्न नहीं था।

यह सही है कि सोवियत औद्योगीकरण में भारी उद्योगों और उत्पादन के साधनों को पैदा करने पर जोर था। शायद इसे ज्यादा संतुलित किया जा सकता था। मध्यम और छोटे उद्योगों को और प्रमुखता दी जा सकती थी। उपभोग के साधनों को कुछ ज्यादा मात्रा में पैदा किया जा सकता था। माओ ने चीन के संदर्भ में इसे एक के बदले दो पैर पर चलना कहा था। इसमें उद्योग के साथ खेती को भी प्रमुखता मिलनी थी।

पर सोवियत औद्योगीकरण की चर्चा करते समय उस समय सोवियत संघ की विशेष स्थिति को ध्यान में रखना जरूरी है। सोवियत संघ चारों ओर से साम्राज्यवादी शक्तियों से घिरा हुआ था। उसे पता था कि शान्ति की मोहलत तात्कालिक ही है। प्रथम विश्व युद्ध के तनाव अभी हल नहीं हुए थे और कुछ और बढ़ गये थे। 1930 के दशक की शुरुआत से तो एक नये विश्व युद्ध का खतरा आसन्न हो गया था। दूसरा विश्व युद्ध कभी भी फूट सकता था।

ऐसे में सबसे बड़ा खतरा सोवियत समाजवाद को ही था। सोवियत समाजवाद सभी साम्राज्यवादियों के लिए दुश्मन था। नाजीवादियों और फासीवादियों के लिए तो यह और भी था।

ऐसे में सोवियत समाजवाद का निर्माण करते हुए इस बात को भी लगातार ध्यान में रखना था कि साम्राज्यवादी हमला कभी भी हो सकता था। प्रथम विश्व युद्ध और गृह-युद्ध की विभीषिका झेल चुका सोवियत संघ इस मामले में गाफिल नहीं हो सकता था।

ऐसे में भारी उद्योगों तथा उत्पादन के साधनों के उत्पादन पर जोर स्वतः ही बढ़ जाना था। जिस संतुलन को आश्वस्त शांतिकाल में अपनाया जा सकता था उसे आसन्न युद्ध के खतरे तले नहीं अपनाया जा सकता था।

इस स्थिति में यह स्वाभाविक था कि मजदूरों और किसानों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने पर जोर किसी हद तक कम हो जाता। उनसे भविष्य के लिए बलिदान की ज्यादा मांग की जाती।

और यही हुआ भी।

परिणाम यह निकला कि जब दूसरा विश्व युद्ध शुरू हुआ और सोवियत संघ उसमें शामिल हुआ तो दुनिया के सारे साम्राज्यवादियों के आकलनों को ध्वस्त करता हुआ सोवियत संघ अपनी विशाल औद्योगिक ताकत के साथ मैदान में आ डटा। यह सोवियत संघ ही था जिसने उन्नत साम्राज्यवादी जर्मनी की हिटलरी ताकत को पराजित किया।

जहां तक सोवियत औद्योगिक उत्पादन में अतिउत्पादन, अराजकता, अयोजनाबद्धता और बर्बादी का सवाल है, यह याद रखना होगा कि सोवियत संघ में दुनिया का पहला योजनाबद्ध उत्पादन हो रहा था। अभी तक समूची अर्थव्यवस्था के योजनाबद्ध उत्पादन के कुछ अमूर्त सिद्धान्त ही मौजूद थे। इसे व्यवहार में कैसे लागू किया जायेगा यह पता नहीं था। सोवियत संघ में इसे पहली बार लागू करने का प्रयास किया जा रहा था। समूची अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में कैसे संतुलन बैठाया जाये, कैसे उत्पादन के साधनों का वितरण किया जाये, इसमें मूल्य के नियमों का कैसे इस्तेमाल किया जाये, उसे कितनी छूट दी जाये इत्यादि पहले से स्पष्ट नहीं थे। इन्हें तो केवल गलतियों से सीखते हुए ही समझा जा सकता था। स्वाभाविक ही था कि इसमें गलतियां होती और उसके परिणाम स्वरूप किसी हद तक अराजकता और बर्बादी भी होती। किसी क्षेत्र में अतिउत्पादन और किसी अन्य क्षेत्र में अभाव की स्थिति पैदा होती। योजनाबद्धता के प्रथम प्रयासों में ऐसा न होने की उम्मीद केवल किताबी या मूढ़मति लोग ही कर सकते हैं।

मसले के सैद्धान्तिक पहलू पर बात करें तो पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन मूल्य के नियमों द्वारा संचालित होता है। इसके विपरीत साम्यवादी व्यवस्था में उत्पादन पूर्णतया योजनाबद्ध होगा। समाजवाद बीच की संक्रमणकालीन अवस्था है जिसमें योजना और मूल्य के नियम दोनों मौजूद होंगे। एक का दखल लगातार बढ़ता जायेगा जबकि दूसरे का लगातार घटता चला जायेगा। लेकिन ठीक इसी कारण कि समाजवाद में दोनों मौजूद होंगे इसमें अतीव जटिलता पैदा हो जाती है। इस जटिलता से ठीक से निपटना कोई आसान काम नहीं है।

जहां तक मजदूरों-किसानों की कीमत पर एक सर्वसत्तावादी राज्य द्वारा औद्योगीकरण का सवाल है, किसानों के बारे में पहले ही बात की जा चुकी है। आगे हम सोवियत समाजवाद में मजदूर वर्ग के सवाल को लेंगे।

V
मजदूर वर्ग

सोवियत समाजवाद पर एक बड़ा हमला उसमें मजदूर वर्ग की स्थिति को लेकर ही है। कहा जाता है कि उसमें मजदूर वर्ग की स्थिति पूंजीवादी समाजों से भिन्न नहीं थी। उसमें मजदूरों की अकुशलता क्रमशः बढ़ रही थी तथा इसी के साथ इसके भीतर गैर-बराबरी भी। ट्रेड यूनियनें निष्क्रिय हो गयी थीं या फिर प्रबन्धक वर्ग का औजार। मजदूरों के ऊपर फैक्टरी तानाशाही लागू थी। उनके पास कोई अधिकार नहीं थे और उन्हें बात-बात पर दंडित किया जाता था। कुल मिलाकर यह कि मजदूर वर्ग के ऊपर तानाशाही थी और किन्हीं मामलों में तो पूंजीवादी समाजों से भी कठोर।

थोड़े और परिष्कृत रूप में यह बात की जाती है कि सोवियत संघ में उत्पादकों और उत्पादन के साधनों के बीच विलगाव, जो पूंजीवादी समाज की विशेषता होती है, लगातार बना रहा। इसके बने रहते किसी तरह के समाजवाद की बात नहीं की जा सकती। मजदूर वर्ग की राज्य सत्ता स्वयं मजदूर वर्ग को विस्थापित नहीं कर सकती यानी मजदूर वर्ग की राज्य सत्ता द्वारा उत्पादन के साधनों का अधिग्रहण इस विलगाव को समाप्त नहीं करता।

कुल मिलाकर सोवियत समाजवाद के चरित्र के बारे में बात अगले हिस्से में की जायेंगी। इस हिस्से में चर्चा मजदूर वर्ग के सामान्य हालात तक सीमित रहेगी।

मजदूर वर्ग का अपना विशिष्ट चरित्र न केवल उत्पादन के साधनों से वंचित होकर श्रमशक्ति की बिक्री करने में है बल्कि इसमें भी है कि वह बड़े पैमाने के उद्यमों में संगठित रूप में काम करता है। मार्क्सवाद में मजदूर वर्ग के उत्पादन में संगठन की तुलना फौज से की गई है। बड़े पैमाने के उद्यमों में उसका यह संगठन उसमें एक खास चरित्र पैदा करता है जो उसे एक संगठित व योजनाबद्ध कम्युनिस्ट समाज का निर्माता होने की ओर ले जाता है।

जब रूस में अक्टूबर क्रांति हुई तो पाया गया कि उद्योग विसंगठित होने की ओर बढ़ रहे थे। विश्व युद्ध की तबाही और उसके बाद फरवरी क्रांति के बाद फैली अराजकता अपना गंभीर असर उद्योगों पर डाल रहे थे। कच्चे मालों का यातायात की विशृंखलता के कारण अभाव होता जा रहा था।

अक्टूबर क्रांति के बाद जब गृह-युद्ध का भीषण दौर शुरू हुआ तो इसने स्थिति को और विकराल कर दिया। जो भी उत्पादन संभव था उसे गृह-युद्ध की ओर उन्मुख किया गया। उत्पादन की अराजकता और ज्यादा बढ़ गयी। पहले का संगठित मजदूर वर्ग, जिसने दो-दो क्रांतियां सम्पन्न की थीं, गृह-युद्ध के दौर में सबसे ज्यादा प्रभावित हुआ। इसका एक बड़ा हिस्सा गृह-युद्ध के दौरान खेत रहा था। जब गृह-युद्ध समाप्त हुआ तो पाया गया कि खदानों सहित ज्यादातर उद्यम ठप हो गये थे । स्वयं मजदूर वर्ग का एक बड़ा हिस्सा मजदूर नहीं रह गया था। वह भांति-भांति के तरीकों से किसी तरह अपनी जीविका चला रहा था।

इन सबका प्रभाव नये समाजवादी समाज पर पड़ना ही था। अक्टूबर क्रांति के तुरंत बाद जब फैक्टरियों-खदानों पर मजदूर वर्ग की राज्यसत्ता ने कब्जा किया तो शुरू में उन्हें मजदूरों की फैक्टरी कमेटियों इत्यादि के जरिये चलाने का प्रयास किया गया। पर समय के साथ पाया गया कि गृह-युद्ध की अराजकता और उद्यमों के संचालन में मजदूर वर्ग की अनुभवहीनता के चलते उद्यमों को इस तरह से संचालित नहीं किया जा सकता। ऐसे में बुर्जुआ प्रबन्धकों या मालिकों को इस काम का जिम्मा सौंपा गया। इससे अन्य चीजों के अलावा दोहरे प्राधिकार की समस्या पैदा हुई जो बाद तक भी बनी रही। पेंडुलम कभी एक ओर तो कभी दूसरी ओर ढुलकता रहा।

गृह-युद्ध की समस्या के अलावा इसका एक दूरगामी कारण था। रूस का मजदूर वर्ग अभूतपूर्व रूप से क्रांतिकारी था। पर अन्य मामलों में रूस का आम पिछड़ापन रूस के मजदूर वर्ग में भी अभिव्यक्त होता था। साक्षरता की समस्या से लेकर पारिवारिक संबंधों तक इसका विस्तार था। यूरोप के अन्य देशों के विपरीत रूस में मजदूर वर्ग की ट्रेड यूनियनें नहीं थीं जहां संगठन और संगठन के संचालन का एक अच्छा प्रशिक्षण मजदूरों को हासिल होता है। ज्यादातर ट्रेड यूनियनें अभी फरवरी क्रांति के बाद ही पैदा हुई थीं। फैक्टरी कमेटियां और सोवियतें तो क्रांति का उपकरण ही थीं और क्रांति के बाद ही पैदा हुई थीं। पूंजीपति वर्ग के साथ क्रांतिकारी संघर्ष में तो ये अद्वितीय थी पर फैक्टरियों/उद्योगों के प्रबन्धन में इनकी उपयोगिता नहीं बनती थी।

एक ओर एक प्रबन्धक/डायरेक्टर के हाथों में उद्यम का प्रबन्धन तथा दूसरी ओर फैक्टरी कमेटी, ट्रेड यूनियन या पार्टी कमेटी द्वारा इस प्रबन्धन में हस्तक्षेप की स्थिति पूरे स्तालिन काल में बनी रही। इसने दोहरे प्राधिकार की समस्या तो पैदा की ही, साथ ही मजदूर वर्ग द्वारा स्वयं उत्पादन का संचालन का बुनियादी लक्ष्य इससे हासिल नहीं हो सका। बाद में चीन की सांस्कृतिक क्रांति के दौरान तिहरी कमेटी (पार्टी प्रतिनिधि, मजदूरों का प्रतिनिधि तथा प्रबन्धन प्रतिनिधि) के द्वारा इस ओर बढ़ने का प्रयास किया गया पर सोवियत संघ में स्थिति यही बनी रही।

जैसा कि पहले कहा गया है यह मजदूर वर्ग के समग्र विकास से जुड़ी हुई समस्या थी। कुल मिलाकर सांस्कृतिक स्तर नीचा होने के चलते कमेटियों के आधार पर उद्यमों का संचालन मुश्किल हो जाता था। बात केवल उद्यम के स्तर पर एक कुशल प्रबन्धक के न होने की नहीं थी। किसी बड़े उद्यम में प्रबन्धन के कई स्तर होते हैं। सांस्कृतिक स्तर नीचा होने पर हर स्तर पर इसी तरह के प्रबन्धन की जरूरत

पड़ने लगती है। शुरू में प्रबन्धन के लिए बुर्जुआ प्रबन्धकों को वापस बुलाना पड़ा था। बाद में कम्युनिस्टों में से भी विशेषज्ञ विकसित किये गये। 1930 के दशक में इसके लिए 'लाल विशेषज्ञ' का अभियान ही चलाया गया। पर आम सांस्कृतिक स्तर के उन्नत हुए बिना इससे ज्यादा फर्क नहीं पड़ सकता था। इससे बस यही हो सकता था कि प्रबन्धन के विभिन्न स्तरों पर बुर्जुआ प्रबन्धकों के बदले कम्युनिस्ट प्रबन्धक हो जाते। पर प्रबन्धन का बुनियादी चरित्र यानी व्यक्तिगत प्रबन्धन का चरित्र वही बना रहता।

यह सही है कि व्यक्तिगत प्रबन्धन का मामला पूरे स्तालिन काल में बना रहा पर इसे बुर्जुआ प्रबन्धन के समरूप समझना निहायत गलत होगा। पूंजीवादी समाजों में बुर्जुआ प्रबन्धकों को उद्यमों में जो असीमित अधिकार होते हैं वैसा सोवियत समाजवाद में बिलकुल भी नहीं था। दोहरे प्राधिकार की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। प्रबन्धकों के ऊपर पार्टी कमेटियों और ट्रेड यूनियनों का अंकुश रहता था। अक्सर ही प्रबन्धक शिकायत करते थे कि उनकी जिम्मेदारियां तो बहुत हैं पर उनके पास इन जिम्मेदारियों को निभाने लायक अधिकार नहीं हैं। हमेशा ही इन प्रबन्धकों को ऊपर से आये निर्देशों के हिसाब से काम करना होता था। समाजवादी निर्माण के बाद जब पंचवर्षीय योजनाएं शुरू हुईं तो उद्यम के लक्ष्य उद्यम के मजदूर सामूहिक तौर पर 'प्रतियोजना' (counter planning) के तहत तय करते थे। प्रबन्धकों को इन लक्ष्यों के हिसाब से चलना होता था। अक्सर ही प्रबन्धकों को उद्यम के मजदूरों की आम सभा का सामना करना पड़ता था। ये सब मिलकर सोवियत समाजवाद में व्यक्तिगत प्रबन्धन को एक खास चरित्र प्रदान करते थे। एक ओर तो यह मजदूर राज्य के अनुरूप था, दूसरी ओर समस्याग्रस्त भी था।

रूस के मजदूर वर्ग का समस्त पिछड़ापन उत्पादन के स्तर पर और कठिन समस्या साबित हुआ। प्रबन्धन के स्तर पर कुछ आगे बढ़े हुए मजदूरों से काम चलाया जा सकता था। पर उत्पादन के स्तर पर तो हर मजदूर की ही भागीदारी बनती थी। उस स्तर पर केवल कुछ आगे बढ़े हुए मजदूर बाकियों के लिए केवल प्रेरणा स्रोत ही हो सकते थे, उनकी कुशलता या आन्तरिक प्रेरणा का विकल्प नहीं।

रूस में पिछड़े पूंजीवाद में पिछड़े मजदूरों से काम चलता आया था। पर समाजवाद में यह नहीं चल सकता था। इस समस्या को हल करने के लिए क्रांतिकारी रूस और सोवियत संघ में विकसित पूंजीवादी देशों से सीखने तथा समाजवादी व्यवस्था के अनुरूप नयी चीजें इजाद करने दोनों के प्रयास हुए।

क्रांति के कुछ समय बाद ही लेनिन ने 'टेलरिंग सिस्टम' से सीखने की बात की। लेनिन की इस बात की आज तक आलोचना होती रहती है। पर मनगढ़न्त आसमान में उड़ते रहने के बदले यदि लेनिन की तरह ठोस समस्याओं का सामना करना हो तो इस तरह की आलोचना गायब हो जायेगी। टेलर का सिस्टम व्यापक तौर पर सूक्ष्म श्रम विभाजन से संबंधित है जिसमें उत्पादन की एक बड़ी प्रक्रिया को छोटे-छोटे टुकड़ों में बांट कर उसमें लगने वाले समय का अध्ययन किया जाता है जिससे उसे कम से कम किया जा सके। पूंजीवाद में यह न केवल श्रम की कुशलता और उत्पादकता बढ़ाने के काम आता है बल्कि यह अत्यन्त व्यापक श्रम विभाजन तथा समय की किफायत के जरिये मजदूर के शोषण और गुलामी को बहुत बढ़ा देता है। यह मजदूरों को ज्यादा से ज्यादा सीमित श्रम विभाजन में कैद कर अकुशल बनाता जाता है। एक सूक्ष्म श्रम पक्रिया में अतिकुशलता समग्र तौर पर अकुशलता की ओर ले जाती है। इससे मजदूर के बेहद खंडित, सीमित उत्पादक चरित्र का निर्माण होता है और श्रम उसके लिए अधिकाधिक बोझ बनता जाता है।

जब लेनिन ने टेलर सिस्टम से सीखने की बात की तो ऐसा नहीं था कि वे इसके चरित्र से वाकिफ नहीं थे। पर जैसा कि लेनिन ने बार-बार कहा रूस की पिछड़ी स्थितियों में तो उन्नत पूंजीवादी देशों की चीजें भी आगे की चीजें थीं जिनसे सीखा जा सकता था। लेकिन इससे भी बड़ी बात यह कि मार्क्स एंगेल्स की तरह लेनिन भी अच्छी तरह जानते थे कि समाजवाद और साम्यवाद का मतलब श्रम-विभाजन से पीछे लौटकर सामंती दस्तकारियों के युग में जाना नहीं था। इनमें तो श्रम विभाजन बढ़ना ही था क्योंकि इसी तरह कुशलता बढ़ाई जा सकती है चाहे उस प्रक्रिया को मशीन को सौंपा जाये या मनुष्य को। समस्या श्रम विभाजन की नहीं बल्कि अत्यन्त सूक्ष्म श्रम-विभाजन में मनुष्य को बांध देने की थी। श्रम को सरल, दोहराने वाले हिस्सों में बांट देने से उसकी रोचकता जरूर नष्ट हो जाती है पर यह इंसान को केवल जीवन यापन के लिए श्रम करते रहने से मुक्त करने का साधन भी जुटाता है। बदलते श्रम और समूची श्रम प्रक्रिया की समझदारी तथा उस पर नियंत्रण से श्रम विभाजन की सीमितता वाले पहलू पर काबू पाया जा सकता था।

लेनिन का तात्कालिक उद्देश्य भले ही सोवियत रूस में श्रम की कुशलता और उत्पादकता बढ़ाना था पर उसका दूरगामी उद्देश्य दूसरा था। यह अलग बात है कि सोवियत समाजवाद के समूचे काल में इस ओर नहीं बढ़ा जा सका।

क्रांतिकारी रूस में मजदूर वर्ग पूरे समाज का एक छोटा सा हिस्सा था। रूस की बड़ी आबादी किसान थी। रूस में समाजवादी निर्माण के साथ मजदूर वर्ग में नये तत्वों की भरती होती रही। सामूहिक फार्मों के गठन और उसके मशीनीकरण के बाद उसमें और तेजी आ गई। औद्योगिक मजदूरों की पातों में शामिल होने वाले ये मजदूर देहातों का पिछड़ापन और अकुशलता अपने साथ लाते थे। इससे मजदूर वर्ग के संघटन में पिछड़े तत्वों की एक बड़ी संख्या हमेशा बनी रहती थी।

सोवियत मजदूर वर्ग के समग्र पिछड़ेपन और उसमें देहातों से पिछड़े तत्वों की लगातार भरती ने सोवियत समाजवाद में श्रम विभाजन की समस्या को कभी समाजवादी ढंग से हल नहीं होने दिया। उद्यमों के प्रबंधन की समस्या तो इसका एक पहलू था जिसका ऊपर जिक्र किया गया है। स्वयं शॉप फ्लोर के स्तर पर भी इसने कुशल और अकुशल मजदूरों के बीच श्रम विभाजन तथा इनकी अदला-बदली के साथ श्रम-विभाजन के हानिकारक प्रभावों को कम कर पाने की किसी संभावना को अत्यन्त कमजोर बना दिया। कुशल और अकुशल

मजदूरों के बीच श्रम-विभाजन स्थाई बना रहा तथा किन्हीं मामलों में तो इसने बढ़ती भी हासिल की। यह स्वाभाविक ही है कि श्रम-विभाजन के हानिकारक प्रभावों पर काबू पाने के समाजवादी उपायों की अनुपस्थिति में श्रम कुशलता व उत्पादकता बढ़ाने के प्रयास अकुशल श्रम बढ़ाने की ओर ले जा सकते हैं।

मजदूर वर्ग के पिछड़ेपन और श्रम विभाजन की इस स्थिति का मजदूरी और अन्य जीवन यापन के साधनों के बंटवारे पर फर्क पड़ना ही था। समाजवाद के पूरे दौर में 'क्षमतानुसार काम और काम के अनुसार उपभोग' का मूलतः बुर्जुआ अधिकार कायम रहता है। कुशल और अकुशल मजदूरों के बीच फर्क की स्थिति में यह उनकी मजदूरी और अन्य सुविधाओं में भी अभिव्ययक्त होगा। यही सोवियत संघ में भी हुआ। वहां मजदूरों की कई श्रेणियां विद्यमान थीं तथा अन्य सुविधाओं में भी फर्क था। सबसे ऊपर और सबसे नीचे के मजदूरों में यह फर्क काफी ज्यादा हो जाता था।

स्थितियां कितनी विकट थीं उसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि स्वयं स्तानाखोव जैसे समाजवादी आंदोलन भी समय के साथ कुशल और अकुशल मजदूरों के बीच भेद बढ़ाने के साधन बन जाते थे। इससे मजदूरों की एक नयी विशेषाधिकार संपन्न श्रेणी उभर आती थी।

इस सबसे केवल एक ही तरह से निपटा जा सकता था। वह था भौतिक के बदले नैतिक प्रोत्साहन पर जोर देना। यह स्वीकार करना होगा कि स्तालिन कालीन सोवियत संघ में इस पर जोर कम था। लेकिन साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि स्तालिन जैसे कम्युनिस्ट नेता द्वारा भौतिक प्रोत्साहन पर जोर भीषण वस्तुगत मजबूरियों का ही परिणाम हो सकता था। इन मजबूरियों को केवल समग्र तौर पर ही चुनौती दी जा सकती थी जैसा कि चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति में किया गया। चीन की तरह सोवियत संघ में भी सामान्य समाजवादी शिक्षा अभियान इसके लिए नाकाफी थे।

श्रम विभाजन की सीमाओं को न तोड़ पाने और भौतिक प्रोत्साहन तथा गैर-बराबरी के लिए सोवियत समाजवाद की भर्त्सना करना आसान है पर यह नहीं भूलना होगा कि अभी कुछ साल पहले ही रूस एक पिछड़ा सामंती देश था जो गैर-बराबरी के समंदर में गोते लगा रहा था। वहां से साम्यवाद की ओर छलांग एक झटके में हिमालय की चोटी तक न पहुंचा सकती थी। तब तो और भी जब दुनिया भर के साम्राज्यवादी उस छलांग को हर तरीके से बाधित कर रहे थे।

उपरोक्त से यह भी स्पष्ट है कि क्यों एक उद्यम से दूसरे उद्यम के बीच आवा-गमन में मजदूरों पर निश्चित नियम-कानून लागू थे तथा कुछ दंडात्मक कानूनों का प्रावधान किया गया था। स्व अनुशासन के ऊंचे स्तर पर इन सबकी कतई जरूरत नहीं पड़ती। यह भी सोवियत समाजवाद की मजबूरी थी, उसकी इच्छा नहीं। यह तथ्य न तो 'फैक्टरी तानाशाही' को साबित करता है और न ही इस बात को कि सोवियत समाजवाद को मजदूर अपना नहीं मानते थे। क्रांति के लिए अपनी जान की जरा भी परवाह न करने वाले लाल सेना के सैनिकों का मनमौजीपन मशहूर है जब उनसे उनकी अपनी राइफलें और बूट साफ रखवाना मुश्किल काम हो जाता था।

जहां तक मजदूरों की ट्रेड यूनियनों का सवाल है, समाजवाद में उनकी दोहरी भूमिका थी। एक ओर वे मजदूरों के अधिकारों की रक्षा करती थीं तो दूसरी ओर वे उत्पादन में भी भूमिका निभाती थीं।

सोवियत सत्ता के शुरुआती काल में ही यह सवाल उठा था कि मजदूर राज में ट्रेड यूनियनों की क्या भूमिका हो। जहां त्रात्स्की जैसे लोग ट्रेड यूनियनों को सोवियत राज्य सत्ता का हिस्सा बना देना चाहते थे, वहीं 'मजदूर विरोध पक्ष' समूची उत्पादन व्यवस्था को उत्पादकों के संघ को सौंप देने का पक्षधर था। लेनिन ने इन दोनों का विरोध करते हुए कहा था कि सोवियत राज में ट्रेड यूनियनों को राज्य से अलग होना चाहिए। केवल इसी तरह वे मजदूरों के अधिकारों के लिए संघर्ष कर सकती हैं, जिनकी सोवियत राज्य में भी जरूरत पड़ सकती है। दूसरी ओर चूंकि सोवियत राज मजदूर वर्ग का ही राज्य है, इसलिए इसमें उत्पादन को संगठित करने और बढ़ाने में भी ट्रेड यूनियनों की भूमिका बनती है।

सोवियत संघ में इसी सोच के तहत यूनियनें संगठित की गईं और उन्हें विशाल ट्रेड यूनियन फेडरेशन के तहत लाया गया। यूनियनों का संगठन पेशे के आधार पर नहीं बल्कि उद्योगों के आधार पर किया गया।

सोवियत आलोचकों के इस आरोप के विपरीत कि तोम्स्की को ट्रेड यूनियन नेतृत्व से हटा देने के बाद ट्रेड यूनियनों का स्वतंत्र वजूद समाप्त हो गया तथा वे प्रबन्धन का हिस्सा बन गईं, तथ्य यही है कि पंचवर्षीय योजनाओं के दौर में ट्रेड यूनियनें पूर्ण सक्रिय थीं। हर मजदूर यूनियनों का सदस्य था तथा वे मजदूरों की ओर से उद्यमों में हस्तक्षेप करती थीं। व्यक्तिगत प्रबन्धन की प्रणाली पर वे मजदूरों की ओर से किसी हद तक अंकुश लगाती थीं।

हां, यह स्पष्ट है कि समाजवाद में ट्रेड यूनियनों की दोहरी भूमिका होने के चलते इस बात का हमेशा खतरा था कि वे मजदूरों के हितों को नजरअंदाज कर प्रबंधन का उपांग बनने लगें। सोवियत समाजवाद में किन्हीं मामलों में ऐसा होता भी था। पर यह आम स्थिति नहीं थी।

V

सोवियत समाजवाद का समग्र चरित्र

सोवियत समाजवाद के आम चरित्र को लेकर उतनी ही अवस्थितियां मौजूद हैं जितनी कि वर्गीय अवस्थितियां हैं। साम्राज्यवादियों और दूसरे इंटरनेशनल के संशोधनवादियों ने इसे एक तानाशाही या सर्वसत्तावादी समाज घोषित किया जो हिटलर के जर्मनी की श्रेणी में ही आता था। त्रात्स्की और उसके अनुयायियों ने इसे एक पतित मजदूर राज बताया जो नौकरशाही से ग्रस्त था। ख्रुश्चोव के लिए यह समाजवाद तो था पर जो स्टालिन के अपराधों के बावजूद था। कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन में दबी-जुबान से उपरोक्त अवस्थितियों के सारतत्व घुसाने के प्रयास किये जाते हैं।

इन सबमें दो बातों पर खासा जोर होता है। एक तो मजदूर वर्ग की शक्तिहीनता पर, दूसरे जनवाद के अभाव पर। कहा जाता है कि सोवियत संघ में मजदूर वर्ग की तानाशाही नहीं बल्कि मजदूर वर्ग के ऊपर तानाशाही थी। पार्टी नौकरशाही मजदूरों सहित सब पर शासन करती थी। मार्क्स के हवाले से बात की जाती है कि उत्पादकों के उत्पादन के साधनों से विलगाव के समाप्त हुए बिना उत्पादकों यानी मजदूरों की किसी भी मुक्ति की बात बेमानी है।

सोवियत संघ में समाजवाद के यथार्थ पर आने से पहले मामले के सैद्धान्तिक पहलू को लें।

लेनिन द्वारा प्रस्तुत कम्युनिस्ट पार्टी की अवधारणा में यह भाव प्रस्तुत था कि इसका काम केवल मजदूर वर्ग में कम्युनिज्म का प्रचार करना नहीं था। इसे सत्ता पर कब्जे और तत्पश्चात समाजवाद के निर्माण में मजदूर वर्ग का नेतृत्व करना था। यह मानी हुई बात थी कि सत्ता पर कब्जे से लेकर साम्यवाद तक की यात्रा में सर्वहारा राज्य सर्वहारा वर्ग की पूंजीपति वर्ग पर तानाशाही के अलावा कुछ नहीं हो सकता था। लेनिनवादी धारणा में इस तानाशाही को लागू करने में भी मजदूर वर्ग का नेतृत्व पार्टी को करना था। बिना पार्टी के नेतृत्व के यह तानाशाही नहीं लागू हो सकती थी।

यह मार्क्सवाद का बुनियादी सिद्धान्त रहा है कि इतिहास का निर्माण जनता करती है। इसी के तहत यह सिद्धान्त भी था कि कम्युनिज्म का निर्माण मजदूर वर्ग करेगा। मजदूर वर्ग की मुक्ति स्वयं मजदूर वर्ग का काम है। पर क्या मजदूर वर्ग स्वयं बिना किसी संगठित नेतृत्व के यह कर लेगा? और यदि पूंजीपति वर्ग की संगठित राज्य सत्ता के खिलाफ क्रांति कर सर्वहारा वर्ग की एक संगठित सत्ता कायम करनी है तथा एक संगठित योजनाबद्ध समाज का निर्माण करना है तो क्या यह बिना किसी संगठित नेतृत्व के संभव हो पायेगा? यदि किसी संगठित नेतृत्व की आवश्यकता है तो इसका चरित्र क्या होगा और सर्वहारा वर्ग से इसका संबंध क्या होगा?

इसी के साथ दूसरा महत्वपूर्ण सवाल यह रहा है कि क्रांति के बाद जो राज्य सत्ता कायम होगी उसका स्वयं मजदूर वर्ग के साथ क्या संबंध होगा? यदि यह राज्य सत्ता मजदूर वर्ग की ओर से उसके नाम पर समाज के समस्त उत्पादन-वितरण को अपने हाथ में लेती है तो यह सारे समाज को कैसे हस्तांतरित होगा? राज्य की सम्पत्ति सारे राज्य की सम्पत्ति कैसे बनेगी? इस राज्य सत्ता को स्वयं मजदूर वर्ग के खिलाफ जाने से कैसे रोका जा सकेगा? यदि मजदूर वर्ग को नेतृत्व के लिए एक संगठित शक्ति की जरूरत है तो उसका इस राज्य सत्ता से क्या संबंध होगा? यदि साम्यवाद एक राज्य विहीन समाज होगा तो उसकी ओर बढ़ने के लिए राज्य और मजदूर पार्टी के विलोपन की प्रक्रिया क्या होगी?

ये कुछ ऐसे सवाल रहे हैं जिनका मार्क्सवाद केवल आम गति के तौर पर जवाब देता रहा था। ठोस जवाब को भविष्य की क्रांतियों के लिए छोड़ दिया गया। रूस की क्रांति और सोवियत समाजवाद ने पहली बार इन सवालों का इनकी समग्रता में सामना किया।

मजदूर आंदोलन में सक्रिय अराजकतावादियों के लिए इन सवालों का सीधा सा जवाब था। वे किसी भी तरह के संगठन और संगठित शक्ति के खिलाफ थे। न तो मजदूर वर्ग को नेतृत्व देने के लिए किसी संगठित पार्टी की आवश्यकता थी और न ही पूंजीवादी राज्य सत्ता के खात्मे के बाद किसी मजदूर राज्य सत्ता की। मजदूर किसी तरह से क्रांति कर लेंगे और फिर किसी तरह से कम्युनिज्म में पहुंच जायेंगे। कम्युनिस्टों का काम तो बस पूंजीवाद और कम्युनिज्म के बारे में प्रचार करना था। स्वाभाविक था कि मजदूर आंदोलन में अराजकतावादियों को गंभीरता से नहीं लिया जा सकता था। जहां कहीं भी अराजकतावादी थोड़ी ताकत में उभरे वहां उन्होंने अपने सिद्धान्तों के खिलाफ ही आचरण किया यानी उन्हें कोई न कोई संगठन बनाना पड़ा।

दूसरे इंटरनेशनल की पार्टियां मजदूर वर्ग के नेतृत्व के लिए मजदूर पार्टियों की बात तो करती थीं पर, जैसा कि वक्त ने दिखाया, उनका वास्तव में क्रांति और सर्वहारा की तानाशाही में यकीन नहीं था। वे तो वस्तुतः सुधारवादी पार्टियां थीं। अपने सुधारवाद को ढंकने के लिए उन्होंने बोल्शेविक क्रांति के खिलाफ जनवाद का झंडा बुलंद किया। उन्होंने जनवाद के वर्गीय चरित्र को छिपाकर उसे अमूर्त रूप में पेश किया तथा जनवाद बनाम तानाशाही का मुद्दा उठाया। उन्होंने इसे दृढ़तापूर्वक ठुकराया कि पूंजीवादी जनतंत्र असल में पूंजीपति वर्ग की तानाशाही होता है तथा इसके बरक्स समाजवादी जनतंत्र सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के सिवा कुछ नहीं हो सकता। चूंकि वे पूंजीवादी जनतंत्र में यकीन करने वाले सुधारवादी थे इसलिए उनके लिए उपरोक्त कठिन सवालों का कोई अस्तित्व नहीं था। मजबूर किये जाने पर वे मार्क्स-एंगेल्स के कुछ आम सूत्रीकरणों का हवाला देकर पिण्ड छुड़ा लेते थे। वे किस हद तक गये उसका अंदाज इस बात से लगाया जा सकता है कि दूसरे इंटरनेशनल के सर्वप्रमुख सिद्धान्तकार और बोल्शेविक क्रांति पर सबसे बढ़-चढ़ कर सैद्धान्तिक हमला करने वाले

काउत्स्की ने यह घोषित कर दिया कि मार्क्स ने यूं ही चलते-चलते एक-दो जगह सर्वहारा तानाशाही की चर्चा कर दी थी जिसका कोई गंभीर सैद्धान्तिक या व्यावहारिक महत्व नहीं था।

यहां यह ध्यान रखना होगा कि बोल्शेविक क्रांति और बोल्शेविक राज्य सत्ता के खिलाफ सबसे ज्यादा हमले जनवाद के नाम पर ही किये गये और ठीक बोल्शेविकों द्वारा राज्य सत्ता पर कब्जा करने के समय से ही। साम्राज्यवादियों और दूसरे इंटरनेशनल के सुधारवादियों ने पहले दिन से ये हमले किये। इसके लिए उन्होंने स्तालिन काल का इंतजार नहीं किया। बाद में तीसरे इंटरनेशल के गद्दारों ने भी उन्हीं से तर्क उधार लेकर सोवियत समाजवाद पर हमले किये।

जनवाद से वस्तुतः वंचित मजदूर वर्ग (रूसी क्रांति के समय तो मजदूर वर्ग औपचारिक तौर पर भी जनवाद से वंचित था और वह भी केवल रूस में नहीं) जनवाद को व्यवहार में क्रांति के बाद कैसे हासिल और प्रयोग करेगा, यह भी उपरोक्त अन्य सवालों की तरह एक पेंचीदा सवाल है जिसे कुछ आम फिकरों से नहीं निपटाया जा सकता। इसी तरह यह भी महत्वपूर्ण सवाल है कि मजदूरों के इस जनवाद का सर्वहारा वर्ग की तानाशाही से क्या संबंध होगा?

सोवियत समाजवाद के सारे ही आलोचकों द्वारा इस सवाल के जो भी जवाब दिये जाते रहे हैं वे बुर्जुआ जनवाद से प्रभावित तथा उसी की ओर झुके रहे हैं। असल में सवाल उठाने वालों की जमीन ही प्रत्यक्ष-परोक्ष तौर पर बुर्जुआ जनवाद होती है। वे जनवाद के सवाल को अमूर्त तौर पर उठाते हैं तथा वही नुस्खे प्रस्तावित करते हैं जो बुर्जुआ जनवाद से निकलते हैं। जनवाद के सवाल को उसके वर्गीय अंतर्य से काटकर उठाना ही बुर्जुआ जनवाद के सामने समर्पण का सबसे बड़ा प्रमाण है।

पूंजीवाद में मजदूर वर्ग न केवल उत्पादन के साधनों से वंचित उजरती गुलाम होता है बल्कि पूंजीपति वर्ग उसे हर तरह की अज्ञानता और जहालत में रखता है। पूंजीपति वर्ग सारे ही ज्ञान-विज्ञान को अपने वर्ग में या अपनी सेवा करने वाले पेटी बुर्जुआ बुद्धिजीवियों में केन्द्रित करता है।

ऐसे में मजदूर वर्ग का बहुलांश ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति से वंचित होकर बस उजरती गुलामी की जिंदगी जी रहा होता है। वह केवल पूंजी की बढ़ोत्तरी के लिए जिंदा रहता है। यदि उसकी कोई चेतना होती भी है तो संस्कृति के निम्न स्तर पर बुर्जुआ चेतना होती है जो उसे अपने ही वर्गीय हितों के विरुद्ध खड़ा करती है।

यह सही है कि मजदूर वर्ग अपने वर्ग की विचारधारा की ओर सहज प्रवृत्त होता है पर इसे बुर्जुआ वर्ग हर तरीके से रोकता है। सांस्कृतिक-वैचारिक हमले से लेकर मजदूर वर्ग को बुर्जुआ पार्टियों/संगठनों के पीछे गोलबंद करना सब तरीके से यह किया जाता है।

बुर्जुआ समाज में मजदूर वर्ग की इस स्थिति के चलते यह स्पष्ट है कि मजदूर वर्ग स्वयं एक समूह के तौर पर बुर्जुआ राज्य सत्ता को समाप्त कर कम्युनिज्म में प्रवेश नहीं कर सकता। उसे संगठनबद्ध होना ही होगा। यह संगठनबद्धता पार्टी का ही रूप ले सकती है क्योंकि बुर्जुआ समाज में वर्गीय हितों के संघर्ष के लिए संगठन का कोई और स्वरूप नहीं हो सकता। पार्टी के रूप में यह संगठनबद्धता अपने आप एक श्रेणी क्रम को जन्म देगी। यह नेतृत्व करने वालों और नेतृत्व किये जाने वालों की एक पूरी शृंखला ही हो सकती है। एक अमूर्त संभावना के तौर पर यदि पूरा का पूरा वर्ग ही पार्टी में शामिल हो जाये तब भी वहां यह श्रृंखला मौजूद रहेगी। इससे भी कोई फर्क नहीं पड़ेगा कि इसमें ऊपर से नीचे तक सारे मजदूर ही हों।

वस्तुगत सच्चाई की इस स्थिति में नेतृत्व करने वालों तथा नेतृत्व किये जाने वालों के बीच-पार्टी के भीतर और बाहर दोनों-क्या संबंध स्थापित होंगे यह इस बात पर निर्भर करेगा कि मजदूर वर्ग की समग्र चेतना की क्या स्थिति है। उन्नत चेतना की स्थिति में ये संबंध ज्यादा जनवादी होंगे जबकि निम्न चेतना की स्थिति में इसका उल्टा होगा। यह संबंध अंतर्वस्तु से तय होगा, रूप से नहीं। उन्नत चेतना की अनुपस्थिति में जनवाद को सुनिश्चित करने वाले सारे नियमों-कानूनों से कोई परिणाम नहीं निकलेगा। वे स्वयं स्वच्छंदता या तानाशाही के बायस बन जायेंगे।

मजदूर वर्ग की उन्नत चेतना की अवस्था में कम्युनिस्ट पार्टी में जनवादी केन्द्रीयता का उसूल दोनों ही पहलुओं में ज्यादा बेहतर तरीके से लागू होगा। इसकी अनुपस्थिति में यह केवल एक औपचारिकता रह जायेगी। असल में स्वेच्छाचारिता और तानाशाही का बोलबाला होगा।

पार्टी द्वारा मजदूर वर्ग के नेतृत्व पर भी यही बात लागू होती है। मजदूर वर्ग की उन्नत चेतना की अवस्था में पार्टी और वर्ग के संबंधों में जनवाद का तत्व ज्यादा होगा। तब वर्ग को आदेश या दबाव की जरूरत नहीं होगी। वह सहज तरीके से अपने नेतृत्व का अनुसरण करेगा तथा नेतृत्व पर अंकुश भी रखेगा।

सर्वहारा तानाशाही के वास्तविक सारतत्व पर भी यही बात लागू होती है। मजदूर वर्ग की उन्नत चेतना की अवस्था में पार्टी द्वारा मजदूर वर्ग को प्रतिस्थापित करने की जरूरत नहीं होगी।

पर तब भी, उन्नत चेतना की अवस्था में भी पार्टी और वर्ग के बीच, राज्य और पूरे समाज के बीच एक अंतर्विरोध बना रहेगा। नेतृत्व करने वालों और नेतृत्व किये जाने वालों के बीच अंतर्विरोध बना रहेगा। साम्यवाद की ओर संक्रमण का एक जरूरी लक्ष्य यही होगा कि समाज को पार्टी या राज्य की जरूरत न रह जाये जिससे यह अंतर्विरोध समाप्त हो जाये। पर जब तक पार्टी और राज्य रहेंगे तब तक

यह अंतर्विरोध भी रहेगा। तब तक जनवाद भी सीमित रहेगा। जिस क्षण जनवाद पूर्णतया लागू करना संभव होगा। उसी क्षण उसकी जरूरत समाप्त हो जायेगी। जब हर कोई नेतृत्व करने में सक्षम हो जायेगा तब नेतृत्व करने की जरूरत भी समाप्त हो जायेगी।

उपरोक्त से स्पष्ट है कि सारा दारोमदार मजदूर वर्ग की चेतना पर है। ये अंतर्विरोध कैसे विकसित होंगे, किधर विकसित होंगे यह मजदूर वर्ग की चेतना पर निर्भर करता है। लेकिन इसी से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि समाजवाद के उत्तरोत्तर विकास के लिए यह जरूरी है कि पार्टी और राज्य मजदूर वर्ग की चेतना को उत्तरोत्तर उन्नत उठाने के लिए हर संभव प्रयास करें। सोवियत संघ और चीन के अनुभव ने यह दिखाया कि इसके लिए समाजवादी शिक्षा अभियान पर्याप्त नहीं थे। इसके लिए सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांतियों की आवश्यकता होगी।

सोवियत संघ के व्यावहारिक अनुभव की ओर लौटें तो हम पाते हैं कि यहां सारी समस्या सोवियत समाज के पिछड़ेपन की तथा तद्जन्य मजदूर वर्ग के निम्न सांस्कृतिक स्तर की थी। परिणामस्वरूप राज्य सत्ता पर कब्जा करने के कुछ समय बाद ही नयी क्रांतिकारी सत्ता को नौकरशाही की समस्या से जूझना पड़ा।

अभी कुछ महीने पहले ही लेनिन ने 'राज्य और क्रांति' में पेरिस कम्यून से मार्क्स द्वारा निकाले गये निष्कर्षों को रेखांकित किया था। उसमें सर्वप्रमुख यही था कि सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ वर्ग की राज्य मशीनरी का इस्तेमाल कर अपनी मुक्ति की ओर नहीं बढ़ सकता। उसे इस मशीनरी को ध्वस्त करना होगा। बड़े पैमाने की नौकरशाही और सेना इस राज्य मशीनरी का सबसे महत्वपूर्ण अंग होते हैं। इस राज्य मशीनरी को ध्वस्त कर सर्वहारा को अपनी राज्य मशीनरी कायम करनी होगी लेकिन यह बुर्जुआ राज्य मशीनरी से इतनी भिन्न होगी कि एक तरह से यह राज्य होगा ही नहीं।

लेकिन सत्ता पर कब्जा करने के बाद लेनिन और बोल्शेविकों ने पाया कि इसे हासिल कर पाना इतना आसान नहीं था। फरवरी क्रांति के बाद विघटन के बावजूद निरंकुश जारशाही की विशाल राज्य मशीनरी बनी हुई थी। बदनाम पुलिस विघटित हो चुकी थी पर विशाल नौकरशाही कायम थी। जारशाही सेना ने फरवरी क्रांति के बाद नया रूप ले लिया था पर विश्व-युद्ध के दबाव में उसका भी विघटन हो रहा था।

अक्टूबर सर्वहारा क्रांति के बाद यह सारा कुछ तेजी से बदला। पुरानी सेना लगभग पूरी तरह से विघटित हो गई और गृह-युद्ध में एक नयी लाल सेना ने जन्म लिया। विघटित पुलिस की जगह जन मिलिशिया ने ले ली। पुरानी नौकरशाही ने नयी सत्ता के खिलाफ विद्रोह का रुख अपनाया और उसे बलपूर्वक कुचल दिया गया।

पर बोल्शेविकों ने पाया कि उद्यमों के प्रबन्धन की तरह ही नयी राज्य मशीनरी को चलाने के लिए पर्याप्त काबिल लोग नहीं हैं। इसलिए उन्हें पुराने कारकूनों को, खासकर निचले स्तरों पर, फिर काम पर लगाना पड़ा। वे अपने साथ अपनी जारशाही कार्यपद्धति ले आये।

गृहयुद्ध के जमाने में ही, जब पूरा रूसी समाज एक उथल-पुथल से गुजर रहा था, लेनिन ने शिकायत की थी कि नौकरशाही एक बीमारी की तरह बढ़ रही थी और इसके शीर्ष पर विद्यमान बोल्शेविक पुराने कारकूनों पर काबू कर पाने के बदले उसी संस्कृति में ढल रहे थे।

बोल्शेविकों ने नौकरशाही के प्रकोप से बचने के लिए कई उपाय किये। इसमें वैचारिक संघर्ष से लेकर राज्य मशीनरी में मजदूरों की भर्ती सभी कुछ शामिल थे। माना गया कि यदि राज्य मशीनरी के अलग-अलग स्तरों पर चेतना सम्पन्न मजदूरों को लगाया जाता है तो वे फैक्टरी की कार्य कुशलता वहां ले आयेंगे।

पर नौकरशाही की समस्या से सोवियत समाजवाद के पूरे दौर में कभी मुक्ति नहीं पाई जा सकी। बल्कि बाद के दौर में इसमें इजाफा ही हुआ जब सारा उत्पादन और वितरण राज्य के हाथों में आ गया। सामूहिक फार्मों की भी अपनी एक नौकरशाही कायम हो गई जो राजकीय नौकरशाही से संबद्ध थी।

राज्य द्वारा पूरे समाज के हर तरह के संचालन-आर्थिक, राजनीतिक सांस्कृतिक सभी-को अपने हाथ में ले लेने पर यह स्वाभाविक था कि इसे अंजाम देने के लिए एक भारी-भरकम ताना-बाना खड़ा हो। इस ताने-बाने में एक तरह की जड़ता आना भी स्वाभाविक था। यह भी स्वाभाविक था कि जिस हद तक यह समस्त ताना-बाना, समस्त मशीनरी व्यापक मजदूर वर्ग और किसान आबादी से अलग-थलग और भिन्न हो इसके अपने हित पैदा हो जायें जो मजदूरों-किसानों के हितों के खिलाफ हों।

इस सबको सीमित करने और रोकने का एक ही तरीका था। इस पर व्यापक मजदूर वर्ग और किसानों का नियंत्रण कायम किया जाता, समय-समय पर इसे झकझोरा जाता तथा इसके कारकूनों को बदला जाता। इसकी विशेषाधिकार की स्थिति को, खासकर तनख्वाहों और सुख-सुविधाओं को, कम से कम किया जाता। मार्क्स ने पेरिस कम्यून से यही निष्कर्ष निकाले थे जिन्हें लेनिन ने 'राज्य और क्रांति' में दोहराया था।

पर सोवियत समाजवाद में उस तरह से नहीं हो पाया जैसा होना चाहिए था। ऐसा नहीं कि वहां विभिन्न स्तरों पर कारकूनों के चुनाव नहीं होते थे या उन्हें वापस बुलाने का अधिकार नहीं था। ऐसा भी नहीं था कि पार्टी द्वारा स्वयं पार्टी कारकूनों पर या राज्य के कारकूनों पर नजर रखने का, समय-समय पर उन्हें कठघरे में खड़ा कर उनकी समीक्षा करने का आह्वान नहीं किया जाता था। सोवियत समाजवाद की सबसे प्रमुख नेतृत्वकारी संस्था यानी कम्युनिस्ट पार्टी में तो समय-समय पर शुद्धीकरण अभियान ही चलाया जाता था जिसमें

पार्टी सदस्यों की एक बड़ी संख्या को बाहर कर दिया जाता था। पार्टी का यह शुद्धिकरण पार्टी के आंतरिक मामले की तरह नहीं किया जाता था बल्कि इस शुद्धिकरण में व्यापक मजदूर और किसान जनता सीधे भाग लेती थी। 1936-38 का व्यापक शुद्धिकरण, जिसमें पार्टी और राज्य सभी शामिल थे, वैसे तो साम्राज्यवादी जासूसों और उनके साथ शामिल षड्यंत्रकारियों के खिलाफ प्रमुखतः लक्षित था पर अप्रत्यक्ष तौर पर नौकरशाही प्रवृत्तियां भी इसका निशाना थीं।

पर समय ने दिखाया समाजवादी शिक्षा अभियान सहित ये सारे उपाय कारगर नहीं साबित हो पाये। इसमें एक भूमिका उन विशेषाधिकारों की भी हो सकती है जो स्तालिन काल में पार्टी कारकूनों और राज्य कारकूनों को हासिल थे। स्तालिन काल में ये विशेषाधिकार कम होने के बदले बढ़े ही। इन्होंने व्यापक मजदूर-किसान जनता से कारकूनों की दूरी को बढ़ाया।

जैसा कि चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति ने दिखाया पार्टी और राज्य की इस नौकरशाही के खिलाफ संघर्ष सामान्य तरीकों से सफल नहीं हो सकता था। इसके लिए तो असल में क्रांतियों की, सांस्कृतिक क्रांतियों की ही आवश्यकता थी।

मूल समस्या यह थी कि सोवियत संघ में यह मान लिया गया था कि समाजवादी निर्माण पूरा हो जाने के बाद, राज्य द्वारा उत्पादन-वितरण अपने हाथ में ले लेने के बाद अब वर्ग-संघर्ष समाप्त हो गया था। अब मसला उत्पादन के स्तर को बढ़ाने का था जिसके लिए उत्पादक शक्तियों का विकास करना था। ज्यादा से ज्यादा समस्या कुछ साम्राज्यवादी एजेण्टों की या ऐसे व्यक्तियों की हो सकती थी जो पूंजीवादी रास्ते पर जाना चाहते थे। उनसे डंडे के बल पर निपटा जा सकता था।

स्तालिन यह नहीं देख पाये और शायद एक पूरी क्रांति की विफलता के बिना देखा भी नही जा सकता था कि समस्या ज्यादा, व्यापक, गहरी और किन्हीं अर्थों में ऐतिहासिक थी। समाजवाद एक तात्कालिक चीज नहीं थी और न ही इसकी मूल समस्या उत्पादन का नीचा स्तर (सबकी जरूरतों को पूरा करने के लिहाज से) थी। समाजवाद वस्तुतः एक पूरा काल खंड था जिसमें वर्गीय समाज की विरासत से मिली सारी चीजों को क्रमशः विलोपित होना था। यह विलोपन भी उथल-पुथल भरी क्रांतियों के जरिये ही होना था और इसमें कई पीढ़ियां लगनी थीं। कई पीढ़ियों को समेटने वाली सांस्कृतिक क्रांतियों की श्रृंखला ही अंततः साम्यवाद के अनुरूप इंसानों को जन्म दे सकती थी।

मार्क्सवाद की शुरुआत से ही यह बुनियादी प्रस्थापना रही है कि साम्यवादी समाज का निर्माण कर सकने के लिए मजदूर वर्ग को स्वयं का क्रांतिकारी रूपान्तरण करना पड़ेगा। पूंजीवाद का सामान्य उजरती गुलाम साम्यवाद का निर्माण नहीं कर सकता। उसे 'अपने आप में वर्ग' से 'अपने लिए वर्ग' बनना होगा तथा वर्गीय समाज की तमाम आदतों-स्वभावों से स्वयं को मुक्त करना होगा। पूंजीवाद के खात्मे और साम्यवाद के निर्माण के लिए खूनी क्रांति केवल इसलिए जरूरी नहीं है कि निजी सम्पत्ति के मालिक चुपचाप अपनी सम्पत्ति नहीं सौप देंगे, बल्कि इसलिए भी जरूरी है कि इस खूनी क्रांति के द्वारा मजदूर वर्ग शुद्धिकरण की प्रक्रिया से गुजरे। केवल सामूहिक सम्पत्ति की स्थापना के लिए खूनी संघर्ष में उतरकर ही, अपनी जान की बाजी लगा कर ही मजदूर वर्ग स्वयं को साम्यवाद का निर्माण कर सकने लायक बना सकता है।

सोवियत समाजवाद के अनुभव ने दिखाया कि मजदूर वर्ग का यह शुद्धिकरण केवल एक बार का काम, पूंजीपति वर्ग की सत्ता उखाड़ फेंकने के समय का ही काम नहीं हो सकता। इसे तो निरंतर जारी रखना होगा। एक के बाद एक आने वाली सांस्कृतिक क्रांतियों की श्रृंखला के जरिये ही इसे जारी रखा जा सकता है। इसी के द्वारा मजदूर वर्ग समाजवादी राज्य को जड़ता से बचा सकता है। इसी के जरिये मजदूर वर्ग अपना और पूरे समाज का शुद्धिकरण कर सकता है। इसी के द्वारा ही वह पूंजीवादी तत्वों का सफाया कर सकता है। इसी के द्वारा वह समाजवादी राज सत्ता को पूंजीवादी रास्ते पर जाने से रोक सकता है और साम्यवाद की ओर यात्रा को जारी रख सकता है। इसी के द्वारा वह खुद को इस लायक बना सकता है कि राज्य के तमाम कामों को क्रमशः अपने हाथ में ले और राज्य के विलोपन की प्रक्रिया को आगे बढ़ाये। इसी के द्वारा वह पार्टी और राज्य की जरूरत को क्रमशः कम कर सकता है और फलस्वरूप किसी भी तरह की नौकरशाही के आधार को समाप्त कर सकता है।

सांस्कृतिक क्रांतियों के जरिये मजदूर वर्ग और पूरे समाज के निरंतर क्रांतिकरण की यह प्रक्रिया अंशतः पार्टी द्वारा संचालित होती है, और अंशतः उसके शुद्धिकरण की ओर लक्षित होती है। यानी पार्टी इसमें प्रेरक और लक्ष्य दोनों होती है। इसमें ही यह संभावना निहित होती है पार्टी के विशेषाधिकार सम्पन्न पूंजीवादी पथगामी तत्व इस प्रक्रिया के खिलाफ खड़े हो जायें और इस क्रांतिकरण को रोक दें। वे उल्टी दिशा में चल पड़ें। लेकिन जब तक कम्युनिस्ट क्रांतिकारी पार्टी में प्रधानता की स्थिति में हों तब तक समाज के निरंतर क्रांतिकरण के अलावा और कोई रास्ता नहीं है।

स्तालिन इन सब नतीजों तक नहीं पहुंच सके थे। केवल सोवियत संघ में विपर्यय के बाद ही चीन में माओ इन नतीजों तक पहुंच सके। स्तालिन पुराने तौर-तरीकों से ही नौकरशाही और पूंजीवादी पथगामियों से निपटने का प्रयास करते रहे। बल प्रयोग द्वारा वे तात्कालिक तौर पर सफल थे पर दूरगामी तौर पर असफल क्योंकि असल में तो पूंजीवादी पथगामी तत्व चुपके-चुपके मजबूत होते जा रहे थे। समय ने दिखाया कि वे स्तालिन की मृत्यु तक इतने मजबूत हो चुके थे कि तुरंत बाद पूंजीवाद की पुनर्स्थापना कर सकें।

स्तालिन कालीन सोवियत समाजवाद में नौकरशाही राज नहीं कर रही थी। और न ही पतित मजदूर राज था जैसा कि त्रात्स्की का दावा था। यहां मजदूर वर्ग का राज था। उसी की तानाशाही थी। पर वह उपरोक्त समस्याओं से ग्रस्त थी और स्तालिन उससे निकलने का कोई रास्ता नहीं खोज पा रहे थे। यह स्तालिन की ऐतिहासिक ही नहीं वैचारिक सीमा भी थी।

सोवियत राज कोई सर्वसत्तावादी राज नहीं था जैसा कि तब साम्राज्यवादियों के चाकर बुद्धिजीवियों का दावा था। अब तो यहां परिशिष्ट में उद्धृत किताब लेखक जैसे लोग भी कहते हैं कि स्तालिन कालीन सोवियत राज को एक सर्वसत्तावादी राज कहना केवल प्रचार मात्र है। इस पर कोई गंभीर व्यक्ति यकीन नहीं करता।

जैसा कि लेनिन ने कहा था, समाजवाद में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही केवल मजदूर वर्ग की पार्टी के जरिये ही लागू हो सकती है। सत्ता पर सर्वहारा के कब्जे के बाद मजदूर पार्टी की यह विश्व ऐतिहासिक भूमिका है जो साम्यवाद में प्रवेश के साथ ही समाप्त हो सकती है। सर्वहारा वर्ग की सर्वहारा तानाशाही में यह भूमिका उसके सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व के द्वारा बनती है। जैसे समाजवादी निर्माण व समाजवादी व्यवस्था के संचालन में पार्टी सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व करती है वैसे ही वह सर्वहारा वर्ग की तानाशाही लागू करने में भी सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व करती है। सर्वहारा वर्ग की चेतना उन्नत होने के साथ इस नेतृत्व की गुणवत्ता उठती चली जाती है। तथा पार्टी और वर्ग के बीच खाई कम होती चली जाती है।

इसमें समस्या तब पैदा होती है जब पार्टी वर्ग को प्रतिस्थापित कर दे। वर्ग की सक्रियता को स्वयं की सक्रियता से प्रतिस्थापित कर दे। बहुतों का कहना है कि बाद के समय में सोवियतों की निष्क्रियता से सोवियत संघ में यही स्थिति हो गई थी। सोवियतें क्रांति का निकाय थीं जिसमें मजदूर वर्ग स्वयं राजनीतिक तौर पर सक्रिय था। अतिशय तौर पर गतिशील होने के चलते क्रांति की राजनीतिक प्रक्रिया पर वास्तव में उनका नियंत्रण था। पर बाद में वे क्रमशः निष्क्रिय होती चली गईं। संवैधानिक-कानूनी तौर पर वे बनी रहीं, उनके नियमित चुनाव भी होते रहे पर उनकी क्रांतिकारी आत्मा खत्म हो गई थी। वे पार्टी का औजार बन गईं थीं। उनकी सक्रियता वस्तुतः पार्टी की ही सक्रियता थी।

सोवियतों के बारे में उपरोक्त बातों में एक आंशिक सच्चाई है। पर वह प्रधान चीज नहीं है। अक्टूबर क्रांति में सत्ता पर कब्जा करने से पहले ही लेनिन ने यह अभिकल्पित किया था कि भावी मजदूर राज को एक जनतांत्रिक गणतंत्र होने के बदले सोवियत गणतंत्र होना चाहिए यानी इसमें सत्ता का आधार सोवियतें होनी चाहिए जो स्थानीय स्तर से लेकर केन्द्र तक सत्ता के वास्तविक निकाय हों। बाद में सोवियत संघ का राजनीतिक ढांचा इसी रूप में विकसित किया गया। जिसमें विभिन्न स्तर की सोवियतें अपने स्तर पर राजनीतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक सभी मामलों का संचालन करती थीं। इनके नियमित चुनाव होते थे और प्रतिनिधियों को वापस बुलाने का अधिकार था।

पर वे ऐसा मजदूर वर्ग की पार्टी के नेतृत्व में ही करती थीं। सोवियतों के संचालन में पार्टी की यह भूमिका नई नहीं थी। फरवरी क्रांति के बाद जब सोवियतें अस्तित्व में आईं तो उस समय क्रांति में शामिल जनवादी पार्टियों के नेतृत्व में ही यह हुआ। समाजवादी क्रांतिकारियों, मेंशेविकों, बोल्शेविकों इत्यादि के राजधानी पेत्रोग्राद में मौजूद नेताओं ने एक तदर्थ कार्यकारी कमेटी का गठन किया जिसने क्रांतिकारी मजदूरों और सैनिकों का आह्वान किया कि वे पेत्रोग्राद सोवियत (मजदूरों और सैनिकों की) के लिए प्रतिनिधि चुनकर भेजें। ये प्रतिनिधि अक्सर किसी न किसी पार्टी के सदस्य होते थे या उससे सहानुभूति रखते थे। चुनाव में तथा स्थानीय सोवियत में भी पार्टियां सक्रिय होती थीं।

इस तरह सोवियतों में मजदूर पार्टी की सक्रियता कोई नई चीज नहीं थी। वह उसका अनिवार्य हिस्सा थी। गृह-युद्ध के बाद स्थिति में परिवर्तन इसलिए आ गया कि गृह-यृद्ध के दौरान प्रतिक्रांतिकारी गतिविधियों में लिप्त होने के कारण बाकी पार्टियां या तो प्रतिबंधित कर दी गईं या फिर वे स्वतः उनसे बाहर हो गईं। सोवियतों में केवल बोल्शेविक पार्टी बच गई। इसकी वजह से सोवियतों में वैचारिक संघर्ष का वह पुराना रूप नहीं रह गया।

जब 1929 तक सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण की वैचारिक बहस का भी निपटारा हो गया (त्रात्स्की, कामेनेव, जिनोवियेव, बुखारिन, तोम्स्की इत्यादि की वैचारिक पराजय के बाद)। तब सोवियतों में बहसों का चरित्र और बदल गया। अब मामला वैचारिक संघर्ष का उतना नहीं रहकर व्यावहारिक तौर पर फैसलों को लागू करने का हो गया। इससे तीखे वैचारिक संघर्षों में गिरावट आई और इसे वैचारिक बहसों के शौकीन सोवियतों की निष्क्रियता के रूप में भी ले सकते हैं। (वस्तुतः मार्क्सवादी पेटी बुर्जुआ बुद्धिजीवियों में क्रांतिपूर्व रूसी सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी तथा क्रांति बाद की 1929 तक बोल्शेविक पार्टी इसलिए बहुत लोकप्रिय है कि उसमें खूब वैचारिक बहसें होती थीं। कुछ तो लेनिन की इसलिए आलोचना करते हैं कि उन्होंने 1921 की दसवीं पार्टी कांग्रेस में पार्टी में गुटबाजी को प्रतिबंधित करवा दिया। इससे पार्टी के भीतर बहसें बन्द हो गईं। अंतहीन बहसों के शौकीन बुद्धिजीवियों के लिए यह बहुत खराब स्थिति थी।)

तीखे शत्रुतापूर्ण वैचारिक संघर्ष के अभाव का मतलब सोवियतों की निष्क्रियता नही था। और न ही उनमें हर तरह की बहसों का अभाव था। 1930 के दशक के सारे ही पर्यवेक्षकों ने सोवियतों में आम जन की जीवन्त भागीदारी का चित्र खींचा है।

सोवियतें फिर एकदम भिन्न भूमिका ग्रहण कर सकती थीं यदि सोवियत संघ में सांस्कृतिक क्रांति जैसी कोई चीज हुई होती। तब वे पुनः क्रांति के दिनों जैसी जीवंतता और सक्रियता हासिल कर सकती थीं।

जो भी हो, सोवियत समाजवाद ऐसा नहीं था कि उसमें मजदूर पार्टी ने मजदूर वर्ग की सक्रियता को प्रतिस्थापित कर दिया था, कि मजदूर वर्ग की सोवियतें निष्क्रिय हो गईं थीं। मजदूर वर्ग की निष्क्रियता की इस स्थिति में सोवियत समाजवाद की विशाल उपलब्धियां नहीं हासिल की जा सकती थीं। सर्वहारा वर्ग पर पार्टी की तानाशाही का तो कोई मतलब ही नहीं। यह शुद्ध साम्राज्यवादी और संशोधनवादी प्रचार था।

यदि स्तालिन काल में सोवियत संघ में मजदूर वर्ग का राज था तथा उत्पादन के सारे साधन इस राज्य के हाथ में थे (सामूहिक फार्मों के कुछ उत्पादन साधनों को छोड़कर) तो मजदूर वर्ग के उत्पादन के साधनों से विलगाव का वह मतलब नहीं रह जाता जो पूंजीवाद में होता है। यहां स्थिति गुणात्मक तौर पर भिन्न थी। इसे पूंजीवाद के अनुरूप या समान्तर तभी माना जा सकता था जब उत्पादन के साधनों के मालिक राज्य पर मजदूर वर्ग के बदले किसी और वर्ग का कब्जा होता जैसा कि ख्रुश्चोव-ब्रेझनेव के काल में था। यहां समस्या दूसरे स्तर की थी। यहां समस्या यह थी कि राज्य के बदले सारा समाज उत्पादन के साधनों को, उत्पादन-वितरण को अपने हाथ में कैसे लें? उत्पादन के साधन राज्य के बदले पूरे समाज की मिल्कियत कैसे बनें? पूरा समाज कैसे राज्य के बिना स्वतः संचालित समाज की ओर बढ़े? कैसे मजदूर उद्यम के भीतर उत्पादन को अपने हाथ में लें और व्यक्तिगत प्रबन्धन को निष्प्रयोजन बना दें? कैसे श्रम विभाजन की जड़ीभूत सीमाओं से पार पाया जाये? कैसे शारीरिक और मानसिक, कृषि और उद्योग तथा शहर और देहात का भेद समाप्त किया जाये?

ये सब बहुत महत्वपूर्ण सवाल थे और समाजवाद की उच्चतर अवस्था के सवाल थे। स्तालिन की समस्या और सीमा यह थी की वे इन सवालों की उनकी तीक्ष्णता और समग्रता में पेश नहीं कर पाये। यहां तक कि वे सामूहिक फार्मों को राजकीय फार्मों में तब्दील कर देने का रास्ता भी मृत्युपर्यन्त नहीं तलाश पाये। इन सवालों को चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति में ही उनकी तीक्ष्णता और समग्रता में उठाया जा सका।

VII
पुनर्कथन

जैसा कि इस लेख के पहले हिस्से में कहा गया है, सोवियत समाजवाद के मूल्यांकन या पुनर्मूल्यांकन का सवाल इतिहास या तथ्य का सवाल न होकर आज मुख्यतः विचारधारा का सवाल है। रूसी क्रांति और सोवियत समाजवाद के विरोधियों के लिए तो यह जरा भी तथ्यों का सवाल नहीं है। चार्ल्स बेतेलहाइम की किताब के तीसरे और चौथे खण्ड में शायद ही किसी सोवियत समाजवाद समर्थक का हवाला दिया गया हो।

सोवियत समाजवाद के साम्राज्यवादी और संशोधनवादी विरोधियों की यह आलोचना एक लम्बे समय से मौजूद रही है। इसकी शुरुआत तो बोल्शेविकों द्वारा सत्ता पर कब्जे से ही हो गयी थी। तब से यह लगातार जारी है। ख्रुश्चोव के सत्तानशीन होने तक दुनिया का कम्युनिस्ट आंदोलन इसे उसी रूप में लेता था जैसे लिया जाना चाहिए था यानी साम्राज्यवादी और संशोधनवादी दुष्प्रचार के रूप में। पर ख्रुश्चोव द्वारा इस दुष्प्रचार की कई सारी बातों को दूसरे शब्दों में दुहरा दिये जाने के बाद कम्युनिस्ट आंदोलन में इसका प्रभाव पड़ने लगा। ख्रुश्चोव-ब्रेझनेव के अनुयाईयों द्वारा तो इन्हें सत्य मान ही लिया गया, कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन में भी इसकी छाया पड़ने लगी। जब माओ की मृत्यु के बाद कोई सर्वमान्य नेतृत्व नहीं रह गया तो पहले से ही बिखराव के शिकार कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन की वैचारिक चूलें हिलने लगीं। विचारधारात्मक तौर पर अपरिपक्व कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन का नेतृत्व इसके प्रभाव में आने लगा। रही-सही कसर डेंग श्याओ पिंग के संशोधनवादी हमले ने पूरी कर दी।

कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन पर सोवियत समाजवाद के बारे में साम्राज्यवादी और संशोधनवादी दुष्प्रचार का प्रभाव अक्सर ही मार्क्सवादी पेटी बुर्जुआ बुद्धिजीवियों के जरिये पड़ता रहा है जो स्वयं अपने विचारों को स्वतंत्र आलोचना के नाम पर साम्राज्यवादियों और संशोधनवादियों से उधार लेते रहे हैं। 'मंथली रिव्यू', 'सोशलिस्ट रजिस्टर', या 'न्यू लेफ्ट' जैसी पत्रिकाओं से सोवियत समाजवाद की ऐसी सतत् आलोचना प्रवाहित होती रही है जो अपने सारतत्व में तो साम्राज्यवादी-संशोधनवादी ही रही है पर रूप में अपने को आलोचनात्मक मार्क्सवादी आलोचना के रूप में पेश करती रही है। यह कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन की उसकी रूढ़िवादिता के लिए आलोचना भी करती रही है। इस दबाव में कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन मार्क्स के प्रसिद्ध कथन 'हर वर्तमान चीज की निर्मम आलोचना, बिना परिणाम या शासकों की चिंता किये' को अनालोचनात्मक ढंग से अंगीकार कर बुर्जुआ वर्ग के दुष्प्रचार को अनालोचनात्मक रूप में स्वीकार करता रहा है। ऐसा होना लाजिमी भी है क्योंकि सोवियत समाजवाद के सम्बन्ध में आलोचनात्मक दृष्टि के लिए उसके पास विचारधारात्मक परिपक्वता का आधार नहीं होता। माओ के पास यह आधार था क्योंकि चीन जैसे एक बड़े देश में क्रांति सम्पन्न कर वे वहां ऐसी ही समस्या से जूझ रहे थे।

एक अंतिम बात और। सोवियत समाजवाद के संबंध में बात करते समय कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन में इसकी विषम परिस्थितियों के बारे में औपचारिक तौर पर बात कर ली जाती है। पर असल में रुख कुछ इस तरह का होता है मानो लेनिन-स्तालिन को

समाजवाद निर्माण की मनचाही परिस्थितियां मिली हों और उन मनचाही परिस्थितियों में समाजवाद का निर्माण करते समय उन्होंने ऐसी गलतियां कीं जो शास्त्रीय मार्क्सवाद के खिलाफ जाती हैं। यह कुल मिलाकर सोवियत समाजवाद की चर्चा को अनैतिहासिक और आदर्शवादी बना देता है।

बहुत पहले मार्क्स ने कहा था कि मनुष्य अपने इतिहास का निर्माण खुद करते हैं पर मनचाही परिस्थितियों में नहीं बल्कि दी गई परिस्थितियों में। और सोवियत संघ में तो ये दी गई परिस्थितियां अत्यन्त भयावह थीं। पहले चार साल के विश्व युद्ध की तबाही और फिर गृह-युद्ध की। उसके बाद शान्ति के काल में अकाल। अभी सोवियत संघ में औद्योगीकरण और सामूहिकीकरण शुरू ही हुआ था कि दूसरे विश्व युद्ध का खतरा मंडराने लगा। और फिर कुछ साल बाद भयानक विश्व युद्ध शुरू भी हो गया जिसमें सोवियत संघ की दस प्रतिशत आबादी खेत रही। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद भी राहत नहीं। साम्राज्यवादियों द्वारा तुरंत शीत युद्ध शुरू। ये परिस्थितियां कम से कम ऐसी नहीं थी जो शांत-चित्त से नये समाज का खाका तैयार करने और उन्हें लागू करने का मौका देतीं।

यही नहीं, नये समाज के निर्माण के लिए सोवियत समाज के निर्माताओं के पास कोई खाका भी नहीं था। पहले का कोई अनुभव नहीं था जिससे सबक निकाले जा सकें (पेरिस कम्यून के अल्पकालिक अनुभव को छोड़कर)। थे तो मार्क्सवाद के कुछ आम सूत्र जो आम दिशा की ओर तो इंगित करते थे पर ठोस तौर पर कुछ नहीं बताते थे। इन आम सूत्रों को रूस व सोवियत संघ की अत्यंत कठिन परिस्थितियों में ठोस तौर पर लागू करना अकल्पनीय रूप से कठिन काम था।

आज माओ द्वारा सोवियत समाजवाद का समुचित सार-संकलन उपलब्ध होने के कारण हमारे लिए यह कहना बहुत आसान है कि स्तालिन ने इस संबंध में अमुक-अमुक गलतियां कीं। कि उन्होंने औद्योगीकरण के मामले में भारी उद्योगों पर जरूरत से ज्यादा जोर देने की गलती की, कि उन्होंने सामूहिकीकरण के दौरान मध्यम किसानों के साथ सही रणकौशल न अपनाने की गलती की, कि उन्होंने कृषि व उद्योग के संबंधों में खेती पर जोर कम देने की गलती की, कि उन्होंने शुद्धिकरण अभियान को ज्यादा विस्तारित करने की गलती की, कि उन्होंने 1930 के दशक में सोवियत संघ में वर्ग और वर्ग संघर्ष खत्म होने की घोषणा करने की गलती की, कि उन्होंने उत्पादन संबंधों के मुकाबले उत्पादक शक्तियों पर जोर देने की गलती की, कि उन्होंने आम तौर पर ही द्वन्द्ववाद को सही तरह से नहीं पकड़ा। इस सबका सोवियत समाजवाद पर असर भी पड़ा। इन गलतियों की अनुपस्थिति में सोवियत समाजवाद अपने गुण में ज्यादा बेहतर होता, उसका भविष्य शायद वह नहीं होता, जो हुआ।

पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि स्तालिन की बहुत सी गलतियों के बीज लेनिन में ढूंढ़े जा सकते हैं, कि गृह-युद्ध का युद्धकालीन कम्युनिज्म और फिर नयी आर्थिक नीति लेनिन के नेतृत्व में ही लागू किये गये थे, कि लेनिन सत्ता पर कब्जे के तुरंत बाद उन बहुत सारी बातों से पीछे हटे जो उन्होंने अभी-अभी 'राज्य और क्रांति' में सूत्रित की थीं। क्रांति और समाजवाद के आम सूत्रों ने ठोस जीवन में बहुत जटिल रूप अख्तियार किये।

लेख का समापन सिडनी और बिट्रिस वेब के एक उद्धरण से करना उपयुक्त होगा जिसमें उन्होंने रेखांकित किया है कि रूस में इतिहास ने कुछ मामलों में अठारह सालों में वह यात्रा पूरी की जो उसने इंग्लैड में चार सौ सालों में पूरी की थी। इसने सोवियत समाजवाद के लिए संघर्ष की जटिलता को बहुत बढ़ा दिया था।

> "1917-35 की रूसी क्रांति ने उन तीन सुस्पष्ट पृथक तत्वों को एक में मिला दिया है जो पश्चिमी यूरोप में सोलहवीं से बीसवीं सदी के बीच अलग-अलग समय पर संकटग्रस्त हुए। पहला संघर्ष था विश्व की व्याख्या के अलग-अलग मतों के बीच, इंसानों के दिमाग और व्यवहार पर वर्चस्व के लिए। अगला था व्यापक आबादी द्वारा अपनी जीविका कमाने के तरीके में प्रचंड रूपान्तरण जो मध्य काल और आधुनिक काल के बीच चला। और अंततः तीसरा संघर्ष था सरकार पर नियंत्रण के लिए ऊपरी वर्ग की अल्पसंख्या तथा आम नागरिकों की व्यापक आबादी के बीच। रूस का यह भाग्य था कि इसकी धार्मिक, औद्योगिक तथा राजनीतिक क्रांतियां अलग-अलग नहीं बल्कि एक साथ हुईं। और शायद इसीलिए उनमें से हर एक उतनी पूर्ण ढंग से सम्पन्न हुई जैसा कहीं और नहीं हुआ। सोवियत संघ में अठारह साल की छोटी सी अवधि में इंसानों को संचालित करने वाली प्रमुख आस्था में सबसे मूलभूत परिवर्तन हो गया है ... ...। दो कृषि क्रांतियां विशाल पैमाने के हर तरह के उत्पादन, कृषि और औद्योगिक दोनों, के मशीनीकरण के साथ-साथ सम्पन्न हुई हैं। जो यह उत्पादन बिलकुल नवीन सिद्धान्तों पर आधारित है। हमने छठे अध्याय में इस बात का वर्णन किया है कि कैसे धरती के छठे हिस्से पर सरकार की सम्पूर्ण संरचना पूर्णतया बदल गई है और सर्वहारा की 'तानाशाही' ने पूंजीपति वर्ग की 'तानाशाही' को प्रतिस्थापित कर दिया है। यदि हम सोवियत संघ में संघर्ष को ज्यादा तीखा, सामाजिक ऊतक के विध्वंस को ज्यादा निर्मम तथा क्रूरता और कष्ट को अधिक पाते हैं-ऐलिजाबेथी इंग्लैण्ड में सुधार के मुकाबले या जार्ज तीसरे के इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति के मुकाबले या 1640 से 1918 के बीच इग्लैण्ड में संवैधानिक परिवर्तन के मुकाबले- तो हमें यह याद रखना होगा कि सोवियत संघ में ये तीनों क्रांतियां चार शताब्दियों के बीसवें हिस्से में केंद्रित हो गयी थीं जिसने इन्हें प्रचण्डता प्रदान की। साथ ही यह याद रखना होगा कि सारे मतभेद और विद्रोह उस आबादी में हुए जो इस काल में इंग्लैण्ड की आबादी की बीस गुना थी। निश्चित तौर पर दुनिया की इतनी बड़ी आबादी कभी भी अचानक और साथ-साथ इतने गहरे और भूकंपकारी परिवर्तनों से नहीं गुजरी।

"कोई भी व्यक्ति इतने विशाल क्षेत्र में और इतने कम समय में, सबसे ज्यादा कटु गृह-युद्ध के बीच जिसे आधा दर्जन विदेशी सेनाओं ने सोवियत क्षेत्रों पर वास्तव में हमला करते हुए समर्थन दिया था, होने वाली इन तीन क्रांतियों से पैदा हुए मानव कष्टों की गणना नहीं कर सकता। लेकिन कोई साथ ही मौत सहित उन मानव कष्टों की गणना नहीं कर सकता जो इंग्लैण्ड में प्रोटेस्टैण्ट सुधार, औद्योगिक क्रांति तथा जनतांत्रिक संसदवाद की विजय के कारण पैदा हुए जबकि यह सब चार शताब्दियों में फैला हुआ था, गृह-युद्ध बहुत नरम था तथा विदेशी हमला नहीं के बराबर था। ... ..." **(Webb, Sidney and Beatrice, Soviet Communism: A New Civilization, Longmans, Green and co. London, Third Edition in one Volume, 1947, p-541-42)**

यहां बस इतना जोड़ना होगा कि इंग्लैण्ड की क्रांतियों ने एक वर्गीय समाज (सामंतवाद) को समाप्त कर दूसरे वर्गीय समाज (पूंजीवाद) को स्थापित किया था जबकि रूसी क्रांतियों ने वर्गीय समाजों को खत्म कर एक वर्ग विहीन समाज की स्थापना की ओर कदम बढ़ाये। इसने क्रांतिकारी परिवर्तन को गुणात्मक तौर से भिन्न बना दिया था। गणना या आकलन में इसे भी ध्यान में रखा जाना चाहिए।

■■■

परिशिष्ट

आतंक के शिकार लोगों की संख्या

विद्वानों ने एक लम्बे समय से 1930 के दशक में आतंक के शिकार लोगों की निश्चित संख्या के बारे में बहस की है। उनके प्रयासों ने अधिकतम और न्यूनतम आकलनों के बीच बहुत ज्यादा फर्क को जन्म दिया जो दसियों लाखों तक पहुंचता है। जनसंख्या और अन्य आंकड़ों का इस्तेमाल करते हुए जन्म, मृत्यु और गिरफ्तारियों की परस्पर विरोधी गणनाएं प्रस्तावित की हैं जिससे कि कृषि के सामूहिकीकरण के कारण अकाल से हुई मौतों (1932-33), महान आतंक (1936-39) के प्रत्यक्ष शिकार और स्तालिन काल में आबादी में कुल "अप्राकृतिक" नुकसान के स्तर का आकलन किया जा सके। अधिकतम और न्यूनतम दोनों आकलनकर्ताओं ने अभिलेखागारों के ठोस प्रमाण का इंतजार किया है, जो उनके दावों के अनुसार उनके अपने आकलनों को सही साबित करेगा। दोनों पक्षों ने एक दूसरे पर खराब या अक्षम विद्वता का आरोप लगाया है और संवाद अक्सर ही कड़वे स्वर से भरा रहा है।

अब पहली बार खुफिया पुलिस के दस्तावेज उपलब्ध हुए हैं जो हमें आकलनों के विस्तार को कम करने में मदद करते हैं। ये सामग्री गुलाग के सविचालय, एन के वी डी/एम वी डी (सोवियत संघ का आंतरिक मंत्रालय) के मुख्य प्रशासन के रिकार्ड हैं जो कि रूसी फेडरेशन के राज्य अभिलेखागार के पहले के "विशेष" (यानी बंद) हिस्से में रखे हुए हैं। आंकड़ों को तालिका-5 में सार-संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है।

अभिलेखागार के आंकड़ों के अनुसार युद्ध से पहले कैंपों और निर्वासन की कुल आबादी चालीस लाख से कम थी। यदि हम उपलब्ध आंशिक जेल आंकड़ों को बहिर्वेशित (extrapolate) करें तो हम वाजिब तौर पर हर साल तीन से पांच लाख की संख्या जोड़ सकते हैं, साथ ही प्रतिवर्ष "कुलकों" को छोड़कर दो लाख की अन्य निर्वासन संख्या को जो महान शुद्धिकरण के समय कुल पकड़े गये लोगों की संख्या को पैंतीस लाख तक पहुंचाती है।

1930 के दशक के अंत में कुल गिरफ्तार लोगों की संख्या के प्रकाशित मुख्य धारा के आंकड़े दिमित्रि बोल्क्वोग्नोव के पैंतीस लाख से लेकर राबर्ट कांकेस्ट के पचास से अस्सी लाख तक तथा ओल्गा शतुनोव्स्किया के दो करोड़ तक हैं। अभिलेखागार की नयी सामग्रियां इंगित करती हैं कि बोल्कोग्नोसोव सच्चाई के सबसे नजदीक थे। एन के वी डी के मुकद्मों पर 1953 की एक सांख्यिकीय रिपोर्ट दिखाती है कि 1937-38 के दौरान खुफिया पुलिस द्वारा 1575259 लोगों को गिरफ्तार किया गया जिनमें से 87 प्रतिशत राजनीतिक आधार पर गिरफ्तार किये गये। इनमें से 1344923 यानी 85 प्रतिशत को सजा मिली। (इसका 1930-36 के काल से फर्क स्पष्ट है जब 61 प्रतिशत लोगों को राजनीतिक कारणों से गिरफ्तार किया गया था तथा जिन्हें राजनीतिक पुलिस द्वारा गिरफ्तार किया गया था उनमें से 62 प्रतिशत को अंततः सजा मिली। इसका 1920 से 29 तक के काल से तो ओर भी फर्क स्पष्ट है जब सुरक्षा पुलिस द्वारा गिरफ्तार लोगों में से 59 प्रतिशत राजनीतिक कारणों से गिरफ्तार किये गये थे पर उनमें से केवल 21 प्रतिशत को ही सजा मिली)।

यह सही है कि 1953 की रिपोर्ट में प्रस्तुत 1575259 लोगों की संख्या में 1937-38 में गिरफ्तार सारे लोग शामिल हैं। 'प्रतिक्रांतिकारी' आरोपों से अलग ऐसे लोगों की संख्या को अदालती आंकड़े 1566185 बताते हैं जिन पर मुकदमा चलाया गया था पर इसकी संभावना कम है कि ये सब गिरफ्तार लोगों में शामिल थे। खासकर यदि सजाएं जेल वाली नहीं होती थीं तो ऐसे लोग औपचारिक तौर पर गिरफ्तार नहीं किये जाते थे। 1937 में तिरपन प्रतिशत तथा 1938 में 59 प्रतिशत सजाएं बिना जेल की थीं, इसलिए गैर प्रतिक्रांतिकारी वजहों से करीब 647000 लोगों को मृत्यु दंड दिया गया या जेल में डाला गया।

हालांकि हमें 1937-38 की गिरफ्तारियों के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं पर हम यह जरूर जानते हैं कि गुलाग कैम्पों की संख्या में 1937 में 175487 की तथा 1938 में 320828 की वृद्धि हुई (1936 में इसमें कमी हुई थी)। 1 जनवरी 1939 को यानी महान शुद्धिकरण के लगभग अंत में श्रम कैम्पों, श्रम कालोनियों तथा जेलों की कुल आबादी 2022976 थी। यह 1937-38 में कैम्पों और जेलों की संख्या में वृद्धि 1006030 की दिखाती है। इसमें उस संख्या को भी जोड़ा जाना चाहिए जो गिरफ्तार तो किये गये थे पर जो कैंपों में नहीं भेजे गये क्योंकि या तो उन्हें कुछ समय के बाद छोड़ दिया गया था या फिर मृत्युदंड दे दिया गया।

1937-38 में महान शुद्धिकरण के दौर में कुल मृत्युदंड का प्रचलित आकलन पांच से सत्तर लाख तक बदलता है। इन सालों में मृत्युदंडों की हमारे पास ठीक-ठीक संख्या नहीं है पर हम इसके विस्तार को सीमित कर सकते हैं। गोर्बाचोव के दौर की के जी बी की एक प्रेस रिलीज के अनुसार 1930 से 53 के काल में 786098 लोगों को "प्रतिक्रांतिकारी तथा राज्य अपराधों" के लिए विभिन्न अदालतों तथा गैर न्यायिक निकायों द्वारा मृत्युदंड सुनाया गया। अब एन के वी डी के अभिलेखागार की उपलब्ध सामग्री के अनुसार 1937-38 में 681692 लोगों को गोली मारी गयी (1936 के 1118 लोगों के मुकाबले)। अभिलेखागार का यह आंकड़ा, जो "एन के वी डी निकायों द्वारा सजा सुनाये गये लोगों" की रिपोर्ट के आधार पर है, ऐसे लोगों को शामिल करता है जो राजनीतिक वजहों से गिरफ्तार नहीं किये गये थे; जबकि के जी बी की प्रेस रिलीज केवल ऐसे लोगों से सम्बन्धित है जो "प्रतिक्रांतिकारी अपराधों" के लिए दंडित किये गये थे। जो भी हो, इस समय उपलब्ध

आंकड़े यह स्पष्ट करते हैं कि शुद्धिकरण के दो सबसे बुरे वर्षों में मारे गये लोगों की संख्या ज्यादा संभावना में लाखों में थी न कि दसियों लाखों में। 1930 से युद्ध की शुरुआत तक केवल अगस्त 1932 से 1933 की अंतिम चौथाई तक का समय ही ऐसा था जब गैर राजनीतिक वजहों से मृत्युदंड दिये गये लोगों की संख्या "प्रतिक्रांतिकारियों" को मृत्युदंड से ज्यादा थी।

1937-38 के आतंक में मारे गये लोगों की संख्या के अलावा बहुत सारे ऐसे थे जो 1930 के दशक में सत्ता की कैद में मर गये। यदि हम 1940 तक मारे गये लोगों की संख्या में गुलाग कैंपों में मरने वालों की संख्या जोड़ दें तथा जेल और श्रम कालोनियों की मौतों के बारे में प्राप्त कुछ आंकड़ों को जोड़ दें, तथा फिर उसमें निर्वासन में मरने वाले किसानों की संख्या को जोड़ दें तो हम 1930 के दशक में दमन से सीधे मरने वालों की कुल करीब पन्द्रह लाख की संख्या तक पहुंचते हैं। यदि हम सामूहिकीकरण के सबसे अराजक सालों में मरने वालों की संख्या लाखों में आकें (निर्वासन में मौतें न कि 1932 के अकाल में) तथा साथ में अन्य श्रेणियों के शिकार लोगों की संख्या जोड़ लें जिसके बारे में हमें कोई आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, तो इस बात की संभावना है कि 1930 के दशक की कैद की मृत्यु संख्या करीब बीस लाख तक पहुंच जाये : "अतिरिक्त मौतों" की विशाल संख्या। दमन के कारण मौतों की दस्तावेजी संख्या बिलकुल ठीक-ठीक नहीं है पर उपलब्ध स्रोत इंगित करते हैं हम अब सही विस्तार (range) में हैं, कम से कम युद्ध के पहले के काल के लिए।

... ...

अन्य शोधार्थियों द्वारा विभिन्न एजेन्सियों की अन्य अभिलेखागारी सामग्रियों का इस्तेमाल करते हुए प्रस्तुत आंकड़े स्तर में काफी नजदीकी समानता दिखाते हैं। वित्त की जनकमिसारियत कैदियों की एक संख्या की बात करती है जो हमारे द्वारा प्रस्तुत आंकड़े से बहुत भिन्न नहीं है। इसी तरह, गुलाग की आर्थिक योजनाओं में आंकी गई संख्या, जो जन कमिसार परिषद की फाइलों में उपलब्ध है, इन संख्याओं से ज्यादा की ओर इंगित नहीं करती । 1937 व 1939 की जनगणना में "एन के वी डी टुकड़ी" उससे सुसंगत है जो हमने गिरफ्तार और निर्वासित लोगों के बारे में प्रस्तुत की है।

अंत में, 1962-63 और 1988 में उच्च स्तरीय सरकारी जांच ने ऊपर प्रस्तुत परिणामों की तरह के परिणामों तक ही पहुंचाया। दोनों ही अवसरों पर पोलित ब्यूरो ने राजनीतिक पूंजी की तरह इस्तेमाल करने के लिए सबसे ऊंचे आंकड़े हासिल करने चाहे और केजीबी की फाइलों को छानने के लिए उच्च गुणवत्ता के पोलित ब्यूरो आयोग गठित किये। 1963 में ख्रुश्चोव ने अपने वर्तमान प्रतिद्वन्द्वियों मोलोतोव और कागानोविच को कठघरे में खड़ा करने वाले आंकड़े चाहे थे तो गोर्बाचोव ने आम तौर पर स्तालिनवाद को बदनाम करने के लिए जो कि उनकी खुलेपन की नीति का हिस्सा था। इन दोनों ही मामलों में प्राप्त परिणाम जो कि अभी हाल में **रूसी फेडरेशन के राष्ट्रपति के अभिलेखागार की बुलेटिन** में प्रकाशित किये गये हैं, यहां प्रस्तुत आंकड़ों के अनुरूप ही हैं।

(j. Arch Getty and Oleg V. Naumov, Road toTerror : Stalin and Self destruction of the Bolsheviks, 1932-1939, Yale University Press, New Haven, 1999,P-587-594)

नोट : यहां मूल पाठ में दिये गये संदर्भों को छोड़ दिया गया है।

■■■